प्रमुख

संस्कृत रूपकों में लोक-संस्कृति

एक समालोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशिका

डॉ० मृदुला त्रिपाठी

प्रोफ़ेसर, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्त्री

सान्त्वना द्विवेदी

एम०ए०(संस्कृत)

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

मार्च, 2000 ई०

पुरोवाक्

मातृभूमि होने के कारण गरिमामयी भारत की वसुन्धरा से सहज अनुराग रहा, और इसकी संस्कृति के प्रति सहज आकर्षण रहा। धीरे-धीरे जब अपनी संस्कृति के प्रति समझ बढ़ी, अपने देश से परिचय बढ़ा, तब अनुराग का यह पौधा पुष्पित और पल्लवित होता गया, अपनी संस्कृति को सम्यक् रूपेण समझने, परखने और आत्मसात करने की आवश्यकता अनुभव होने लगे और वहीं से संस्कृत के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त हुई।

कालान्तर में संस्कृत-भाषा एवं साहित्य के प्रति अध्ययन का जब अवसर मिला, साहित्य की अनेक विधाओं काव्य-नाटक-आख्यायिका इत्यादि से परिचय हुआ, पर उन सबमें दृश्य काव्य के माध्यमों नाट्यादि ने सर्वाधिक प्रभावित किया क्योंकि ये दृश्यकाव्य समाज का अपेक्षाकृत अधिक जीवंत रूप प्रस्तुत करते हैं, अपनी दृश्यात्मकता एवं अवस्थानुकरण रूप होने के कारण ये दृश्य काव्य हमें शीघ्रातिशीघ्र एवं ह्रदय की आंतरिक गहराइयों तक प्रभावित करते हैं, तथा साधारण कोटि के रसिक जन भी नाटक में साधारणीकृत होते हैं।

दृश्य काव्यों के जीवन के प्रति इसी नैकट्य ने नाट्यादि भेदों में मेरी रुचि विशेष रूप से उत्पन्न की, पर यहाँ एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि नाट्यादि भेदों में लोक-संस्कृति के पक्ष पर ही मैंने क्यों विचार किया है। उसका कारण यह था कि प्राय: संस्कृत साहित्य के दृश्यकाव्यों के विषय में यह कहा जाता है कि ये दृश्य काव्य जन-सामान्य के संघर्षो तथा सामान्य जनता के कठोर यथार्थ से बहुत दूर एक ऐसा स्वप्निल आदर्श देते हैं, जो लोक के संघर्ष से परे होता है, परन्तु संस्कृत दृश्य काव्यों के प्रति ऐसा आरोप उचित नहीं है, क्योंकि लौकिक जीवन से जुड़ी संस्कृति ही वह कारण है जिससे हम इन दृश्यकाव्यों से इतनी आत्मीयता का अनुभव करते हैं। समस्त

नाट्य-भेदों में लोक-संस्कृति रची-बसी है। नाट्य-भेद ही क्यों, नाट्य के शिल्प में भी लोक-संस्कृति के दर्शन होते हैं, यथा काव्य-सृजन के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण की अनिवार्यता अपनी संस्कृति का ही एक अंश हैं, किसी कार्य को करने के पूर्व इष्ट की आराधना की परम्परा का निर्वहण मङ्गलाचरण के भी माध्यम से किया जाता है।

नाट्य भेदों में उत्तम, मध्यम, अधम पात्रों की योजना भी विभिन्न वर्गो की संस्कृति के परिचय में सहायक होती है, तथा पात्रों के मध्य होने वाले सम्वाद तथा प्रयुक्त सम्बोधन भी तत्कालीन सांस्कृतिक परम्पराओं को स्पष्ट करते हैं।

नाट्य में संस्कृति के समावेश का स्पष्टीकरण *अवस्थानुकृतिनाट्यम्*[१] के द्वारा होता है समाज में जो कुछ भी हो रहा है, उन सबका समावेश अवस्था के अन्तर्गत होता है, समाज के यही क्रिया-कलाप संस्कृति के घटक तत्व है, इस प्रकार अवस्था के अनुकरण से संस्कृति का समावेश नाट्य में स्वतः ही हो जाता है।

इसी प्रकार नाट्य शास्त्र में भी नाट्य में लोक के समावेश पर आग्रह दिया गया है, आचार्य भरत मुनि कहते हैं- "*लोकवृत्तानुकरणम् नाट्यम्*"[२] अर्थात् स्पष्ट है कि साहित्य में लोक का अनुकरण भी होता है और उसका सृजन भी लोकोपदेश के लिए ही होता है। दृश्यकाव्य में संस्कृति का समावेश इसलिए होता है कि समाज उससे शिक्षा, प्रेरणा प्राप्त कर सके, अतः नाट्यशास्त्र में "*लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद्भविष्यति*"[३] कहा ।

इस प्रकार सांस्कृतिक मूल्यों को आधार बनाये बिना सार्थक साहित्य का सृजन नहीं हो सकता, यदि साहित्य संस्कृति शून्य होगा, तो सम्वेदना शून्य होगा, सम्वेदना का

---

१ दशरूपकम् - ३-१

२ नाट्यशास्त्र - भरतमुनि [1.111]

३. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि [1 115]

अभाव साहित्य के अस्तित्व एवं सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगा देगा।

संस्कृत दृश्य काव्यों के विषय में विवाद यह भी उठाया जाता है कि संस्कृत नाटक सदैव सुखांत ही क्यों होते हैं, आलोचकों के द्वारा ऐसा कहा जाता है कि संस्कृत नाटककारों का जीवन के प्रति एकाङ्गी दृष्टिकोण है, जीवन के कठोर यथार्थ से सर्वथा अपरिचित वे केवल जीवन का सुखद पक्ष ही देखते हैं, एक आदर्श और सुखांत नाटक की रचना करके जीवन के प्रति अपने अधूरे ज्ञान को व्यक्त करते हैं।

परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि यदि रचनाकार सुखांत साहित्य का सृजन करते हैं, तो वह सुखांत सृजन उनका जीवन के प्रति एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं, अपितु जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण प्रकट करता है। मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सच्चिदानंद स्वरूप उस परमसत्ता की प्राप्ति है। आनन्द रूप जीवन से जुड़े साहित्य का सुखांत होना स्वाभाविक है, तथा आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्य-प्रकाश में काव्य का प्रयोजन बताते हुए *'सद्यः परनिर्वृतये'*[१] कहकर साहित्य की आनंदरूपता को स्वीकार किया है। इस प्रकार मैं समझती हूँ अपने देश की सर्वमंगल की शुभकामना ही साहित्य के सुखांत होने का कारण है।

संस्कृत-वाङ्मय का आनंद-प्राप्ति का यह लक्ष्य इसे पाश्चात्य-साहित्य की धारा से अलग करता है। वहाँ त्रासदी या ट्रेजेडी की परम्परा अधिक है, साथ ही पाश्चात्य नाटक घटनाओं का अनुकरण मात्र होते हैं, पर भारतीय नाटक यथार्थ के साथ-साथ पाठकों के समक्ष आदर्श भी रखते हैं, क्योंकि भारतीय दृष्टि में हम जैसे हैं, वैसा वर्णित हो जाना साहित्य नहीं, हमें कैसा होना चाहिए यह बताना साहित्य का उद्देश्य है।

भारतीय चिंतन, दर्शन की भी यह विशिष्टता है कि मानव जीवन की सार्थकता,

---

१ **काव्यप्रकाश-** आचार्यमम्मट१/२

उसकी परिपूर्णता के लिए आदर्श का विधान अवश्य होता है। भारतीय-साहित्य में भी इसी आदर्श रूप वैशिष्ट्य को स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार संस्कृत दृश्य-काव्य चाहे सुखांत हो या आदर्श पर प्रतिष्ठित हो, पर भारतीय जन-जीवन से सदैव जुड़ा रहा। इसी तथ्य को प्रकाश में लाने का मैंने किञ्चित् प्रयास किया है।

नाट्य के विविध भेदों में नाटक की अपेक्षा प्रकरण, भाण, प्रहसन आदि में लोक-संस्कृति अधिक प्रकट रूप में है, क्योंकि ये नाट्य भेद जन-जीवन के अधिक समीप होते हैं, पर नाटक भी जन-जीवन से विलग नहीं क्योंकि नाट्य-भेदों की दृश्यात्मकता उन्हें समाज से दूर नहीं होने देती है। विविध नाट्य-भेदों में लोक-संस्कृति के अन्वेषण के पूर्व मैंने लोक-संस्कृति की धारणा, उसके स्वरूप पर विचार किया है।

एक परम्परा के प्रवाह में जीवन-यापन करने वाला मानव-समाज का वर्ग लोक है। वेदों में महाभारत में, श्रीमद्भगवद्गीता में, व्याकरण में प्रचलित यह लोक शब्द आधुनिक युग में वैचारिक मतभेदों का भी शिकार हुआ। कुछ लोग लोक का अर्थ आदिवासी तथा जंगली जातियों अथवा ग्राम निवासी तक ही मानते हैं, परन्तु लोक जैसे व्यापक शब्द के लिए ऐसा अर्थसङ्कोच उचित नहीं है। लोक तो जीवन की सुन्दर पद्धति के संवाहक, मानव वर्ग का प्रतीक है, जो सरल और सहज जीवन जीते हुए अपनी परम्परा के निर्वाहक एवं संरक्षक हैं।

इसी प्रकार संस्कृति मनुष्य के वाह्य एवं आंतरिक मूल्यों की अभिव्यक्ति है। संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के मन, हृदय एवं संस्कारों से है।

संस्कृति के स्वरूप निर्धारण के पश्चात् संस्कृति एवं सभ्यता में मूलभूत अन्तर होने पर भी दोनों आपस में किस प्रकार एक दूसरे से जुड़े हैं, इस तथ्य पर विचार

किया है, और फिर लोक से जुड़कर संस्कृति जिस सहज और परिष्कृत रूप में हमारे समक्ष आती है, यह अत्यन्त व्यापक अर्थ में जनमानस में पनपी समस्त व्यवहार शैली, आचरण, संस्कारों, मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है।

इस प्रकार लोक-संस्कृति पर सम्यक् विचार के बाद समस्त रूपक-भेदों पर आलोचनात्मक विवेचन किया है। तत्पश्चात् विविध रूपक-भेदों में लोक-संस्कृति के अन्वेषण का प्रयास किया है, जो अनेक रूपों में प्राप्त हुई है। वह चाहे नमस्कार, प्रणाम करने की प्रथा हो, आगन्तुक को आसन देकर पैर धोने का चलन हो। नारी की शिक्षा, नारी की सामाजिक नियति हो, या फिर वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की स्थिति हो। समाज के अन्धविश्वास हो, समाज में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था हो, या फिर तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक थाती के मूल्याङ्कन का क्रम हो। विविध प्रकार के मनोरञ्जन के साधन हो, समाज में प्रचलित विविध प्रकार की कलायें हों। इन सबमें लोक-संस्कृति के दर्शन हुए हैं, जिनके विवेचन का प्रयास इस शोध-प्रबंध में किया गया है।

श्रद्धावनत,

सान्त्वना द्विवेदी

सान्त्वना द्विवेदी

आभार

राष्ट्र और समाज के विचार और आचरण के सहज समन्वय से संस्कृति का निर्माण होता है। संस्कृति, जो हमारे व्यक्तित्व में अनुस्यूत होती है, बिना संस्कृति के हम अपना और समाज का कल्याण नहीं कर सकते हैं लोक से जुड़कर संस्कृति साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है तब वह साहित्य हमारे सांस्कृतिक मूल्यों और परम्पराओं के निर्वहण का माध्यम तो होता ही है साथ ही यथार्थ चित्रण और आदर्श की स्थापना के द्वारा हमारा दिशा निर्देश भी करता है। इन्हीं सांस्कृतिक मूल्यों के अन्वेषण का ईषत् प्रयास मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है, यह प्रयास विद्वज्जन के आशीर्वाद एवं मित्रों के सहयोग से सम्भव हो पाया है।

सर्वप्रथम मैं आभारी हूँ अपनी शोध-निर्देशिका **(डॉ०) मृदुला त्रिपाठी,** प्रोफ़ेसर संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय की, जिनके वैदुष्य और मृदुल व्यवहार की छाया में मेरा यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हुआ है।

मैं आभार प्रकट करती हूँ गीर्वाण भारती के आराधक परमादरणीय **प्रोफ़ेसर चण्डिका प्रसाद शुक्ल जी** की, जिन्होंने शोधकार्य के प्रारम्भिक दिनों में मेरा मार्गदर्शन किया। मैं उपकृत् हूँ परमपूजनीय **डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र**, पूर्व कुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा **डा० कमलेश दत्त त्रिपाठी** प्रोफ़ेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी की, जिन्होंने अपनी ज्ञानराशि से मेरे शोधकार्य में सहायता दी है।

मैं श्रद्धावनत हूँ **प्रो० (डॉ०) राजलक्ष्मी वर्मा** प्रोफ़ेसर संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय की, जिन्होंने मेरे शोधकार्य में परिष्कार हेतु अपना समय दिया। मैं कृतज्ञ हूँ अपने पिता **श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय** एवं पति **डॉ० अशोक द्विवेदी** की, जिनका सहयोग अध्ययन एवं शोध-काल में हमें पग-पग पर मिला है।

अस्तु, मैं अपना शोध-प्रबन्ध आपके समक्ष प्रस्तुत कर रही हूँ।

सधन्यवाद

दिनांक : 7 मार्च, 2000

सान्त्वना द्विवेदी

सान्त्वना द्विवेदी

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

लोक-संस्कृति की अवधारणा

पवित्र मंत्रों से अभिषिक्त दिशायें हैं जिसकी, ऐसे भारतवर्ष की तपःपूत वसुन्धरा आदिकाल से सृजन की साक्षी है, एक ऐसे सशक्त शाश्वत सृजन की; जो विध्वंस की आँधी में नष्ट नहीं हो सका; जो काल की विपरीत गति में भी स्वयं सिद्ध रहा, जिसकी अगणित धारायें सतत प्रवहमान रही हैं ।

भारत की मिट्टी में भगवान् राम के चरण का स्पर्श है, भारत की वायु में योगेश्वर श्रीकृष्ण के गीता के स्वर हैं, भारत के अतीत में वेदों का मंत्रोच्चारण है, ऐसी महिमा से मण्डित जिस देश की उज्ज्वल पीठिका रही हो, उस देश की अनेक विभूतियों ने अपनी प्रतिभा से सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय को समृद्ध किया है। इन विभूतियों की श्रृंखला में अनेक महान् कवि, नाटककार, गद्यकार रहे हैं, जिन्होंने अपनी सर्जना से संस्कृत वाङ्मय को पुष्ट किया है।

साहित्य-सृजन के अन्तर्गत श्रव्य एवं दृश्य दोनों प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्तियां प्रकाश में आयीं, जिसमें श्रव्य माध्यम में काव्य, गद्य-लेखन इत्यादि आते हैं एवं दृश्यात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति के तीन आयाम हैं - नाट्य, नृत्य एवं नृत्त ।

इनमें से नृत्य एवं नृत्त क्रमशः भावाश्रित तथाताललयाश्रित[1] होने के कारण सीमित परिप्रेक्ष्य में प्रचलित हुए । वे या तो राजदरबारों, मन्दिरों तक ही सीमित रहे या फिर नाट्य के अंग अथवा सहयोगी बन गये।

---

1 अन्यद्भावाश्रयं नृत्य नृत्तं ताललयाश्रयम् । दशरूपकम्, धनञ्जय, 1/9 ।

नाट्य, साहित्य की उत्कृष्ट विधा है । यह एक ओर जहाँ आङ्गिक, कायिक और वाचिक अभिनयों से युक्त होता है, वहीं दूसरी ओर भावाभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर प्रदान करता है । नाट्य एक ओर जहाँ रसभावादिसमन्वित साहित्यिक शैली का प्रारूप है, वहीं दूसरी ओर समाज का जीवन्त प्रतिबिम्ब है। दूसरे शब्दों में वर्णन प्रधान अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में अपने दृश्यात्मक वैशिष्ट्य के कारण अवस्थानुकरणात्मक नाट्य या रूपक सदैव जन-जीवन के सर्वाधिक निकट रहा है । चाहे वह ख्यातवृत्त नाटक हो या कल्पनाश्रित इतिवृत्तसमन्वित प्रकरणादि अन्य भेद । नाट्य सदैव जीवन के समीप रहा है ।

नाट्य समाज के अधिक निकट इसलिए भी है क्योंकि इसमें समसामयिक परिवेश अधिक जीवन्त रूप में अभिव्यक्त होता है, यह नैकट्य तब और प्रगाढ़ हो जाता है जब लोक की अविरल धारा नाट्य में सतत प्रवाहशील होती है । रूपक के दस भेदों में लोक-संस्कृति की यह सतत धारा कहाँ-कहाँ से किन-किन रूपों में निकली और विलीन हुई, इसी अन्वेषण का विनम्र प्रयास इस शोध-प्रबन्ध में किया गया है।

लोक का अर्थ

लोक मानव समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य-संस्कार, शास्त्रीयता, अहंकार से शून्य एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। लोक मनुष्य के हजारों विश्वासों, रीतियों, रूढ़ियों, व्यवहारों, परम्पराओं और सङ्कल्पों से बनता है । जहाँ तक मनुष्य की कल्पना है वहाँ तक लोक

है। धरती से आकाश तक लोक है। सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक लोक है क्योंकि लोक अनन्त एवं असीम है ।

जनसामान्य का समस्त चिन्तन, क्रियायें, संघर्ष, अभिव्यक्तियाँ सब कुछ लोक जीवन है । समाज के अतीत और वर्तमान में जो कुछ भी सत्य, शिव और सुन्दर तत्त्व है, वह लोक जीवन में कहीं न कहीं सुरक्षित है । इस लोक के निरन्तर प्रवाह में संस्कृति के मेघ बरसते रहे है, और बरस रहे हैं । किसी भी वर्ग की संस्कृति की धारा अपने साथ-साथ लोक-संस्कृति को भी प्रवाहित करती है ।

लोक शब्द से हिन्दी के *लोग* शब्द की भी व्युत्पत्ति मानी जाती है, जिसका तात्पर्य सर्व-साधारण जनता है । इस प्रकार लोक शब्द का अभिप्राय वह समस्त जन-समूह है, जो किसी देश में निवास करता है । भारत के लोक साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ0 कुंज बिहारी दास ने लोक शब्द की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है-

The People that live is more or less primitive conditions out side the sphere of sophisticated influences[1].

वैसे तो लोक का अर्थ विश्व या संसार है, पर स्थूल रूप में यदि कहा जाय तो लोक तीन हैं -- स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल । अधिक विस्तृत वर्गीकरण के अनुसार लोक चौदह है, सात तो पृथ्वी से आरम्भ करके ऊपर क्रमशः एक दूसरे के ऊपर अर्थात् भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्य या ब्रह्मलोक तथा अन्य सात पृथ्वी

1 ***Study of orisian Folklore*** - Dr Das

से नीचे की ओर एक दूसरे के नीचे अर्थात् अतल, वितल, सतल, रसातल, तलातल, महातल और महाताल ।[1]

व्याकरण के अनुसार लोक का अर्थ

प्रत्येक शब्द का व्यक्तितत्त्व उसकी व्युत्पत्ति से अभिव्यक्त होता है। इस दृष्टि से लोक शब्द संस्कृत के 'लोक्-दर्शने धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'देखना' । इस प्रकार वह समस्त जन-समुदाय जो अवलोकन में समर्थ है, लोक कहा जा सकता है । अर्थात, जन-समुदाय प्रारम्भ से जिन रीति-रिवाजों, परम्पराओं और आदर्शों को देखता आया है, उसे वह स्वयं भी अपनाता है, और अपनी आगे की भी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है, इस प्रकार लोक की अटूट परम्परा युगों-युगों से चली आ रही है।

वैयाकरण पाणिनि ने अष्टाध्यायी में *लोक, सर्वलोक*[2] शब्दों का उल्लेख किया तथा इनसे *ठञ्* प्रत्यय लगाकर लौकिक, सार्वलौकिक शब्दों की निष्पत्ति की है। उन्होंने वेद से पृथक् लोक शब्द की सत्ता को स्वीकार किया है[3], अर्थात् वेद से इतर सामान्य जन में प्रवर्तित शब्द रूपों को लौकिक कहा और अप्रचलित को वैदिक ।

महाभाष्यकार *पतञ्जलि*[4] ने भी जन-साधारण के अर्थ में लोक शब्द का व्यवहार किया है तथा लोक में प्रचलित गौ शब्द के अनेक अपभ्रंश

---

1 संस्कृत हिन्दी शब्दकोश—वामन शिवराम आप्टे , पृष्ठ सं - 884।

2 *लोक सर्वलोकाट्ठञ् तत्र विदित इत्यर्थे लौकिकः ।* 5/1/44, अष्टाध्यायी-पाणिनि

3 बहुल छन्दसि । अष्टाध्यायी-पाणिनि द्रष्ट्व्य - 2/4/39,तथा 2/4/63,सूत्रों की व्याख्या

4 अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः - महाभाष्य, प्रथम आह्निक, पृष्ठ - 20 ।

रूपों का उल्लेख किया है ।[1] इसी प्रकार प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त लोक-सत्ता (लोक यात्रा), लोअप्पवाय (लोक-प्रवाद) आदि शब्द लौकिक नियमों तथा लोक शास्त्र को स्वीकार करते हैं ।

वेदों में लोक का प्रयोग

वेद भारतीय संस्कृति के आदि ग्रन्थ हैं । संस्कृत नाट्य में लोक चित्रण एवं लोक व्यवहार की परम्परा वेदों से चली आ रही है । ऋग्वेद में प्रयुक्त *'देहि लोकम्'*[2] के अनुसार लोक शब्द 'स्थान' के अर्थ में है तथा इसी वेद में अन्य स्थान पर भी लोक का प्रयोग स्थान के ही अर्थ में ही हुआ है -

पितरों ने मृत मनुष्यों के लिये यह स्थान आक्रमित किया है ।[3]

इसी प्रकार *ऋग्वेद*[4] में लोक (समाज) की विराट कल्पना की गई है वह पुरुष रूप ईश्वर है, उसके सहस्र-मुख, सहस्र-नेत्र और सहस्र-पाद हैं। लोक के लिये *जन* शब्द का उल्लेख उस समय हुआ है जब वैदिक ऋषि कहता है कि विश्वामित्र द्वारा उच्चरित यह ब्रह्म या मंत्र जन की रक्षा

---

1 महाभाष्य – प्रथम आह्निक ।

2 ऋग्वेद – 10/14/9।

3 अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्त यमो ददात्यवसानमस्मै । 10/14/9 (ऋग्वेद)

4 सहस्रशीर्षा पुरुष- सहस्त्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।। पुरुषसूक्त -1

करता है ।[1] ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध *पुरुष-सूक्त* में लोक शब्द का व्यवहार *जीव* तथा *स्थान* दोनों अर्थो में हुआ है।[2]

ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद में भी लोक का सङ्केत मिलता है । अथर्ववेद में दो प्रकार के लोक की स्थिति व्यक्त की गयी है । एक मन्त्र में आये 'कस्मात् लोकात्[3] . . . . .' का अर्थ है किस लोक से अर्थात् एक से अधिक लोक की सम्भावना व्यक्त की गयी है । सम्भवतः यहाँ पर लोक शब्द भुवन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में भी ब्रह्मचारी के विषय में बताते हुए 'लोक' का प्रसङ्ग. आया है- वह (लोकान् संगृभ्य) लोगों को इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोक सङ्ग्रह करता हुआ और बार-बार उनको उत्साहित करता है।[4] 'यहाँ *लोक* का प्रयोग *लोग* के अर्थ में हुआ है । अथर्ववेद में ही उत्तम स्त्रियों की रक्षा के सन्दर्भ में लोक का प्रसङ्ग आया है।[5] यहाँ

---

1 य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रतुष्टवम् ।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ।। ऋग्वेद - 3/53/12।

2 नाभ्या आसीदन्तरिक्षं, शीर्ष्णो॑ द्यौ समवर्तत. ।
पदभ्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात् , तथा लोकानकल्पयत् ।। पुरुषसूक्त, ऋग्वेद ।

3 कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः ।
वत्सौ विराज सलिलादुदैतां तौ त्वां पृच्छामि कतरेण दुग्धा ।। अथर्ववेद 8/9/1 ।

3 *ब्रह्मचर्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णवसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।*
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचारिकत् ।। अथर्ववेद 11/5/7

4 यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान्ल्लोकान्पर्यैति रक्षन् ।। अथर्ववेद 4/38/5

4 बहुव्याहितो वा अयं बहुशो लोकः ।। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण 3/28 ।

5 संस्कृति के चार अध्याय – डॉ0 रामधारी सिह दिनकर, पृष्ठ 162 ।

भी *लोक* शब्द *लोग* अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है ।*जैमिनीयोपनिषद्* में प्रयुक्त लोक को अनेक रूपों में व्याप्त बताया गया है।[1]

इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट है कि लोक की यह परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है । ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसके अनेक प्रयोग मिलते हैं जिसका अर्थ लोग, स्थान और जीव इत्यादि है ।

महाभारत में लोक

पुण्यसलिला भारतभूमि के प्रभूत ज्ञान सम्पन्न मनीषियों के सुदीर्घ चिन्तन के परिणामस्वरूप उद्भूत जीवन की समग्र मीमांसा का एक मात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ महाभारत है । श्री रामधारी सिंह दिनकर ने महाभारत में निहित संस्कृति के विषय में लिखा है -- महाभारतकार ने देश के विभिन्न भागों में फैली हुई विचारधाराओं तथा संस्कृतियों को एक स्थान पर लाकर इस प्रकार गुम्फित कर दिया है कि महाभारत सारे देश की जनता का कण्ठहार हो गया ।[2]

इसमें महर्षि वेद व्यास ने ग्रन्थ की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा कि यह ग्रन्थ अन्धकार रूपी अज्ञान से व्यथित लोक की आँखों में ज्ञानरूपी अञ्जन की शलाका लगाकर नेत्रोन्मीलन करता है ।[3]

महाभारत में वर्णित विषयों की चर्चा में लोक यात्रा[4] के सन्दर्भ में लोक शब्द मिलता है । इसी प्रकार *श्रीमद्भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण

---

1 अज्ञान तिमिरान्धस्य, लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानांजन शलाकाभिः, नेत्रोन्मीलन कारकम् ।।

महाभारत महर्षि वेदव्यास, आदिपर्व 1/84 ।

4 पुराणानां चैव दिव्यानां, कल्पानां युद्ध कौशलम् ।
वाक्यजाति विशेषाश्च, लोकयात्रा क्रमश्च य·।।

महाभारत महर्षि वेदव्यास, आदिपर्व 1/69 ।

ने लोक का प्रयोग जगत् के अर्थ में करते हुए कहा है -- *'मैं इस जगत् में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।'*[1]

गीता में लोक से तात्पर्य *त्रिलोक* से है, कहा गया है -- 'वह पुरुष परमात्मा तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका पालन कर रहा है।[2] इसी प्रकार गीता के तृतीय अध्याय में जनहित के लिये लोक सङ्ग्रह पर बल देते हुए लोक शब्द का प्रयोग किया है ।[3]

लोक के अन्य सन्दर्भ

सामान्यतः लोक का अर्थ मानव के उस वर्ग से लिया जाता है, जो सम-सामयिक सभ्यता से अछूते हैं जिनकी वृत्तियां आदिम और अपरिभाषित है । इस अर्थ में लोक का अर्थ आदिवासियों एवं जंगली लोगों तक सिमट जाता है । अन्य लोग लोक का अर्थ उस प्रकार के मानव वर्ग से समझते हैं, जो गांव का निवासी हो और जिस पर बाहरी और आधुनिक सभ्यता का प्रभाव नहीं के बराबर है पर इसकी वृत्तियां आदिम नहीं होती, उस पर भी धर्म, समाज और संस्कृति के संस्कार विद्यमान हैं, अपने आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान आदि में ग्रामीण होते हुए भी उस पर मानवीय विकास के लक्षण परिलक्षित होते हैं ।

---

1 यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। श्रीमद्भगवद्गीता 15/18 ।

2 यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। श्रीमद्भगवद्गीता 15/17 ।

3 लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।। श्रीमद्भगवद्गीता 3/20 ।

लोक और फ़ोक

लोक शब्द की शाश्वत और प्राचीन परम्परा पर विचार के पश्चात् लोक और उसके लिये बने पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द फ़ोक पर विचार करना आवश्यक है । फ़ोक शब्द *ऐंग्लो सेक्सन शब्द* है, जो जर्मन भाषा में *Volk* रूप में प्रचलित है । आंग्ल भाषा में फ़ोक शब्द असंस्कृत एवं मूढ़ समाज अथवा जाति का द्योतक है, पर राष्ट्र के सर्वसाधारण के लिये भी इसका प्रयोग होता है, वैसे तो फ़ोक शब्द के लिये हिन्दी का लोक शब्द ही सर्वाधिक उपयुक्त है । कहीं-कहीं फ़ोक का अर्थ जन या ग्राम भी है, पर सीमित क्षेत्र के कारण उन्हें लोक की व्यापकता के अनुरूप नहीं मानना चाहिये ।

फ़ोक के लिये जन शब्द प्रायः प्रचलित है, पर प्रश्न यह है कि जन शब्द फ़ोक को कितना व्यक्त करता है । जन शब्द जन् धातु से उत्पन्न है, जिसका अर्थ है उत्पन्न होना । साथ ही वेदों में सामान्य जनता के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । अतः जनता के प्रिय राज्य को उस युग में *जानराज्य* कहा गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में भी जन शब्द प्रायः इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । संस्कृत, पालि ग्रन्थों में जन शब्द से मानव समाज का बोध कराया गया । इसी प्रकार पंडित रामनरेश त्रिपाठी[1] ने फोक शब्द के लिये ग्राम शब्द को उपयुक्त ठहराया, पर ग्राम शब्द लोक की विशाल भावना को संकुचित कर देता है, अतः फ़ोक का पर्यायवाची एक मात्र लोक शब्द ही होगा ।

---

1 जनपदपत्रिका – पडित रामनरेश त्रिपाठी, खण्ड-1, पृष्ठ 5-16 ।

भारत में लोक, भारतीय समाज की नागरिक तथा ग्रामीण दोनों संस्कृतियों में व्याप्त है । इसी तथ्य का समर्थन करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोक के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखा है -- *'लोक शब्द का अर्थ जानपद या ग्राम नहीं है बल्कि नगरों व गाँवों में फैली हुई वह समस्त जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं, ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि से सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल, अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।'*[1]

इसी प्रकार लोक शब्द गाँव एवं नगर में रहने वाली उस जनता की ओर संकेत करता है जो अपने पूर्वजों के द्वारा चलायी गई परम्परा का निर्वहण एवं संरक्षण करते हैं । जीवन की सुन्दर पद्धति के संवाहक हैं तथा ये सरल और सहज जीवन जीते हुए कृत्रिमता से रहित हैं, अतः लोक केवल सीमित मानव-समाज, ग्रामवासियों का ही प्रतीक नहीं है, अपितु लोक शब्द संस्कार, व्यवहार, शिक्षा-दीक्षा में देश की प्रतिनिधि संस्कृति का प्रतीक है, और देश की जनसाधारण वृत्तियों का मूर्तरूप है ।

संस्कृति

संस्कृति मनुष्य की वह अभिव्यक्ति है जिसमें मानव की सृजनात्मक शक्ति और योग्यता की पराकाष्ठा होती है । संस्कृति में मानव समाज के विकास का क्रम निहित है । संस्कृति में मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है । संस्कृति वह जीवन शैली है, जिसे

1 जनपदपत्रिका – डॉ0 द्विवेदी, खण्ड-1, पृष्ठ 65 ।

वर्तमान अपने अतीत से ग्रहण करता है, अपने पूर्वजों से ग्रहण करता है। संस्कृति मनुष्य को जीवन जीने के लिये उच्च भावभूमि प्रदान करती है। समाज में जहाँ मनुष्य प्रकृति के उपादानों के सहारे प्राणि-मात्र के साथ-साथ रहने के लिये अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करता है, इसी अनुकूलता का नाम संस्कृति है। यह अनुकूलता लोक में जन्म लेती है। संचारित और विकसित हौती है, समाज के इन्हीं लोक व्यवहारों में संस्कृति के वास्तविक दर्शन होते हैं ।

जहाँ तक संस्कृति के स्वरूप पर विचार का प्रश्न है तो यह संस्कृति ब्रह्म की भाँति अवर्णनीय है। संस्कृति अनुभव में होती है । जीवन के विविध प्रवृतियों से सम्बद्ध संस्कृति का प्रयोग विविध अर्थो में होता है। संकीर्ण साम्प्रदायिकता से लेकर ऊँचे मानव आदर्श की अभिव्यक्ति तक इसका क्षेत्र है । संस्कृति के अन्तर्गत भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य तथा समाज के नैतिक, धार्मिक विश्वास, संस्कार और नियम आ जाते हैं ।

संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के मन, हृदय और मस्तिष्क के संस्कारों से रहता है । संस्कृति से उन संस्कारों का बोध होता है जिनसे समाज के आदर्श और जीवन के मूल्य बनते हैं । किसी भी देश या जाति की आत्मा है संस्कृति । संस्कृति राष्ट्र का लक्षण है । जिस प्रकार कोई नदी बहुत से स्रोतों से जल लेकर अपना स्वरूप निर्धारित करती है उसी प्रकार संस्कृति असंख्य लोग, विद्वान्, सम्प्रदाय, आचार-विचार, शिल्प-कला आदि को आत्मसात करके प्रचलित होती है।

संस्कृति, जैसा नाम से ही स्पष्ट है सम्यक् कृति । मानव की सम्यक् यानि सुविचारित कृतियां ही संस्कृति है । *'संस्कृति वह साँचा है, जिसमें समाज के विचार ढलते हैं वह बिन्दु है, जहाँ से जीवन की समस्यायें देखी जाती हैं ।'*[1] इस प्रकार संस्कृति के द्वारा मनुष्य जीवन के उस सत्य को पहचानता है, जिससे मनुष्य, मनुष्य बनता है ।

संस्कृति का शाब्दिक अर्थ

संस्कृति शब्द *सम्* उपसर्ग पूर्वक *'कृ'* धातु से निष्पन्न होता है । संस्कृत व्याकरण के अनुसार *सम्* उपसर्ग के आगे *कृति* अथवा *कार* शब्द को जोड़ देने पर संस्कृतिः तथा संस्कारः आदि शब्दों की निष्पत्ति का विधान है । इन शब्दों का अर्थ है-संस्कार किया हुआ, दोष तथा त्रुटियों को निकालकर शुद्ध किया हुआ ।

संस्कृति और कल्चर

सम्प्रति संस्कृति शब्द अंग्रेजी के *कल्चर (Culture)* शब्द का समानार्थी है । निरुक्ति की दृष्टि से कल्चर शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के *कोलर (Colar)* धातु से निष्पन्न *कुल्टुर (Culture)* शब्द से हुई है, जिसका अर्थ पूजा करना तथा कृषि सम्बन्धी कार्य करना है।[2] कुछ विद्वान् कल्चर यानि संस्कृति तथा *कल्टीवेशन* यानि कृषिकर्म में समानता की बात करते हैं जिसका आधार यह होता है कि कृषि विद्या *(Agriculture)* के सिद्धान्तों के आधार पर जिस तरह से पेड़-पौधों को विकसित करके अच्छी

---

1 *लोक-सस्कृति, वसन्त निर्गुणे*-पृष्ठ 12,

2 लोक संस्कृति की रूपरेखा – डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय,

खेती तैयार की जाती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य में मानवता की भावना पुष्पित करने के लिये जिस पद्धति का अनुकरण किया जाता है, उसे संस्कृति कहा जा सकता है ।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति को सम्यक् रूप से समझने के लिये सभ्यता का क्षेत्र भी समझना होगा । संस्कृति के लिये जहाँ कल्चर *(Culture)* शब्द का प्रयोग होता है, वहीं सभ्यता के लिये *(Civilization)* शब्द का व्यवहार होता है ।

संस्कृति और सभ्यता के भेद को यदि एक वाक्य में कहें तो संस्कृति निर्माण है, सभ्यता विकास है, संस्कृति आन्तरिक है, सभ्यता बाह्य है । संस्कृति व्यक्ति के भीतर विकसित होती है, तथा सामाजिक परिवेश के अनुकूल व्यक्ति की भावना और व्यवहार में स्पष्ट होती है। सभ्यता का अनुकरण किया जाता है, जबकि संस्कृति क्रमशः बुद्धिसात् की जाती है । सभ्यता का परिणाम शारीरिक एवं भौतिक विकास है, संस्कृति बौद्धिक विकास की अवस्थाओं को सूचित करती है ।

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए *पंडित जवाहरलाल नेहरू* ने कहा- समृद्ध सभ्यता में संस्कृति का विकास होता है उससे दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान, गणित विकसित होती है । मानव मन का बाह्य प्रकृति मूलक जो विकास हुआ, उसे सभ्यता कहेंगे, मानव की अंतर्मुखी प्रवृत्तियों से जो निर्माण हुआ, वह संस्कृति है ।[1]

---

1 भारत एक खोज – पंडित जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ-313

मानवविज्ञानशास्त्री *डॉ0 डी0एन0मजूमदार* के अनुसार-'संस्कृति के अंतर्गत मनुष्य की रीति-नीति, लोक-विश्वास, आदर्श कलायें तथा मानव द्वारा उपलब्ध समस्त कौशल एवं योग्यताओं को लिया जा सकता है।'[1]

संस्कृति के अंतर्गत आने वाले दर्शन, विश्वास, परम्परायें साध्य है। मनुष्य की भौतिक समृद्धि इत्यादि साधन मान्य है । किसी भी समाज की जैसी संस्कृति रहती है, वैसी सभ्यता बनती है, क्योंकि संस्कृति व्यक्ति की प्रकृति का निर्माण करती है । व्यक्ति की प्रकृति समाज की सभ्यता का निर्माण करती है ।

यद्यपि संस्कृति और सभ्यता में सृजन और विकास का, साध्य और साधन का, आन्तरिक और बाह्य का भेद है, तथापि संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे से किस प्रकार जुड़े हैं, इस तथ्य को इन पंक्तियों में अत्यंत सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया गया है --

'शरीर और आत्मा की भांति संस्कृति और सभ्यता जीवन की दो विभिन्न प्रेरणाओं को व्यक्त करती है, दीपक की लौ सभ्यता है, अंदर भरा स्नेह संस्कृति है । सभ्यता जीवन का रूप है, संस्कृति उसका सौन्दर्य है, जो रूप से भिन्न भी है, अभिन्न भी । जो उसके पीछे से झांकता है, जीवन के अवगुण्ठन से भी बाहर-फूटता है, पर वस्तुतः अन्तर में समाया है ।[2]

1- एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल एन्थ्रोपॉलाजी । डॉ0 मजूमदार तथा मदान, पृष्ठ-14

[2]2 सम्मेलन पत्रिका – लोक-सस्कृति विशेषांक सम्पादकीय, पृष्ठ 5, सम्पादक-रामनाथ सुमन

वस्तुतः संस्कृति का निर्माण मूल्यों से होता है । पाश्चात्य देशों में वस्तुओं को इस दृष्टि से देखा जाता है कि धनोपार्जन में कहाँ तक सहायक होगी, भारत में यह परख की जाती है कि इससे मोक्ष लाभ है या नहीं । न हर विदेशी लोभी है, न हर भारतीय मुमुक्षु, पर इन दोनों में दृष्टियों की प्रधानता अस्वीकार नहीं की जा सकेगी । यही दृष्टि किसी देश की संस्कृति का निर्माण करती है ।

संस्कृति परम्पराओं का संरक्षण करती है, पर नूतन तत्त्वों को धारण करती है, संस्कृति नित्य संवर्धन करती है । समय के अनुकूल नूतन तत्त्वों को धारण करते हुए भी, शाश्वत सांस्कृतिक धारा की कोई हानि नहीं होती, इस प्रकार संस्कृति सदा निर्जरता को धारण करती है ।

इस प्रकार संस्कृति की भावना सङ्कीर्ण नहीं है । वह एक ऐसे भवन के समान है, जिसमें अनेक खिड़कियां हैं, जिनसे स्वच्छ, शीतल वायु प्रवेश कर भारतीय लोक-जीवन को सदैव अम्लान बनाये रहती है।

लोक-संस्कृति

लोक मनुष्य के विश्वास, व्यवहार, परम्परा और सङ्कल्पों से जुड़ा है और संस्कृति समाज के आदर्शों और जीवन के मूल्यों से जुड़ी है। लोक का सूत्र सामान्य जन-मानस से बँधा है तथा साधारण जीवन शैली में परम्परया निर्वाहित होता है जबकि संस्कृति विशिष्ट होती है और आदर्श रूप में कहीं न कहीं अवश्य रहती है । जब लोक का *सामान्य* एवं संस्कृति का *विशेष* आपस में मिलते हैं तब लोक की *सहजता* और संस्कृति के *परिष्कार* से सत्य, शिव और सुन्दर आदर्श संस्कृति का निर्माण

होता है जिसे लोक-संस्कृति कहा जा सकता है । लोक से जुड़ने पर यह संस्कृति नागरिक संस्कृति से भिन्न सहज, सरल और अकृत्रिम होती है । लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति में गीत, कहानी या लोक-कला जो भी हो सब कुछ परिष्कृत एवं अलंकृत रचनाओं से बहुत भिन्न होगा, पर इसमें सामान्य जन-मानस के हृदय की वेदना मिलेगी, यह मस्तिष्क की उपज न होकर हृदय से जुड़ा होगा ।

लोक-संस्कृति का वैशिष्ट्य

प्राचीनकाल से लोक-संस्कृति की परम्परा शताब्दियों के रहन-सहन, हर्ष-उल्लास, व्यथा, रीति, विश्वास, मान्यताएँ, गीत और कलाओं से आगे बढ़ती आयी है । इस लोक-संस्कृति के वह तत्त्व जो समय के साथ प्रासंगिक नहीं रहे, पुराने पत्ते की तरह स्वतः झड़ जाते हैं, नये पल्लव के समान नवीन-परम्परायें जुड़ती जाती हैं । लोक-संस्कृति की धारा सबके लिये एक समान है, इसमें वर्ग-वैषम्य के लिये कोई स्थान नहीं है, लोक के जीवन-मूल्य हो, या लोकाचरण, वे सबके लिये एक से हैं ।

लोक-संस्कृति की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति विशेष प्रकार का सहज रूप में कलाकार होता है। वह लोक-गायक हो सकता है, लोक-दस्तकार हो सकता है, लोक-नर्तक हो सकता है, शिल्पकार हो सकता है, सामूहिक जीवन से जुड़े उस लोकमानव के सृजन में उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों का मेल रहता है।

लोक-संस्कृति में शास्त्रीय नियमों से दूर जनमानस में पनपी व्यवहार-शैली, मूल्य, आचरण आते है, लोक-संस्कृति शास्त्रीय रुढ़ियों से

बँधी न होकर, लोक की सहजता को गति देती है, पर पूरे संयम के साथ, अतः प्रवाह तूफान में न बदलकर निश्चित धारा में बहता है । इस प्रकार लोक-संस्कृति में समन्वित और सन्तुलित मानसिकता की प्रधानता रहती है ।

साथ ही लोक-संस्कृति का एक और विशिष्ट पक्ष है, आध्यात्मिक पक्ष । अध्यात्म की परम्परा आदिकाल से चली आ रही है, लोक मानस अपने जीवन मूल्यों में आकाश, पाताल, मृत्युलोक आदि पर जो बल देते हैं, वह लोक की अध्यात्म धारा ही है ।

लोक_संस्कृति के उद्देश्य

लोक-संस्कृति शिक्षा का माध्यम है। बच्चों को राक्षस और दैत्यादि की कथायें सुनायी जाती हैं, जिससे उनका मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही उनके मानस पटल पर अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे संस्कार बनते हैं, कि वह सन्मार्ग की ओर प्रेरित होते रहते हैं । इसी प्रकार पंत्रतंत्र इत्यादि में लालची ब्राह्मण की कथा सुनकर लालच बुरी बला है, इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त होता है । इस तरह अशिक्षित समाज में शिक्षा का अभाव होने के कारण इन कथाओं और कहावतों द्वारा उपदेश दिया जाता है, धर्मच्युत लोगों को सन्मार्ग की ओर प्रवर्तित किया जाता है ।

लोक-संस्कृति का एक अन्य उद्देश्य समाज में प्रचलित सभ्यता को पुष्ट करना है । समाज में रहने वाले मनुष्य अनेक प्रकार के धार्मिक कार्य करते हैं । उनके इन धार्मिक नियमों को लोक-संस्कृति औचित्य प्रदान करती हैं। किसी देश के मिथक उस देश की सांस्कृतिक परम्परा को बल प्रदान करते हैं और इसी प्रकार धार्मिक अनुष्ठान आदि सामाजिक संरचना के

रूप को बतलाने में व्यावहारिक मार्गदर्शक का कार्य करते है । सुप्रसिद्ध मानवविज्ञानशास्त्री *मेलिनोवस्की* ने इसी बात का समर्थन किया है --

'A Second function of ~~flok~~ folk lore is that which plays in validating Culture, in justifying its rituals and institutions to those who perform and of serve them. Myth is not explanator, but serves as warrant, a charter and often a practical guide to magic, ceremony, ritual and social structure ... the function of myth, briefly, is to strengthen Tradition and endore it with agreater value and prestige '[1] --

लोक–संस्कृति के बीज

भारतवर्ष में लोक–संस्कृति की अभिव्यक्ति अथर्ववेद से ही होने लगी थी, परन्तु आदि काव्य रामायण में लोक का अंश भाषा में भी प्रकट होता है । उस समय शिष्ट जनता और साधारण जन की भाषा में अन्तर था, इसका सङ्केत इस तथ्य से मिलता है कि जब हनुमान अशोक वाटिका में सीता से मिलने जाते है, तो सोचते है, यदि मै संस्कृत बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझ कर डर जायेगी ।[2] इसी प्रकार संस्कृत नाटकों में उत्तम पात्रों के लिये संस्कृत भाषा का व्यवहार किया गया, तथा मध्यम

1 दि स्टडी ऑफ फोकलोर – डॉ० एलेन डण्डी, पृष्ठ 292

2 वाच यदि प्रदास्यामि, द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावण मन्यमानां॰च, सीता भीता भविष्यति ।। वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड

एवं अधम पात्रों के लिये परिनिष्ठित प्राकृत एवं सामान्य प्राकृत का प्रयोग किया गया ।

पश्चिमी विद्वानों ने लोक-संस्कृति का प्रारम्भ आदिम जातियों के समय से प्रचलित जो विश्वास, परम्परायें, जादू-टोने, दैवी चमत्कार के गीत, उक्तियाँ, वार्ताएँ है, उनसे माना तथा इन्हीं का थोड़ा परिवर्तित रूप आधुनिक समाज में प्रचलित है ।[1]

साथ ही उस समय के उपदेशकों, कवियों, शासकों ने अपने समय के धार्मिक विचारों, विश्वासों, मान्यताओं, मूल्यों को लोक-वार्ताओं, लोकोक्तियों से व्यक्त किया । जैसे माँ बच्चे को मनोरञ्जन के लिये परियों की, उड़ने वाले घोड़े की, राजकुमार की कथा सुनाती है । प्लेटो ने अपने दर्शन का आधार बहुत कुछ इन्हीं पौराणिक कथाओं को बनाया । ईसामसीह, भगवान् बुद्ध, कन्फ्यूशियस आदि ने भी इन्हें ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया ।

लोक–संस्कृति और फोकलोर

लोक-संस्कृति के लिये अंग्रेजी भाषा में फोकलोर शब्द का प्रयोग मिलता है । फोक शब्द की उत्पत्ति 'ऐंग्लो सेक्सन' *Folc* शब्द से मानी जाती है । डॉ0 बार्कर ने *Folk* शब्द की व्याख्या में लिखा है कि *Folc* शब्द से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है, परन्तु इसका विस्तृत अर्थ लें तो किसी सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं ।[2]

---

1 लोक–संस्कृति की एकरूपता– सम्मेलन पत्रिका, श्री मोहनसिंह सेंगर, पृष्ठ 99।

2 लोक_संस्कृति की रूपरेखा । कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ 20।

फ़ोकलोर के सन्दर्भ में *फ़ोक* का अर्थ असंस्कृत है। दूसरा शब्द लोर ऐंग्लों सेक्शन लर *(Lar)* शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है – सीखा गया, अर्थात् ज्ञान अर्थात् फ़ोकलोर का अर्थ है – असंस्कृत लोगों का ज्ञान । *फ़ोकलोर* शब्द का निर्माण *विलियम टाम्स* ने सन् 1846 ई0 में किया । इसके पहले इस शब्द के लिये लोकप्रिय पुरातत्त्व *सामग्री* अथवा 'लोकप्रिय साहित्य' *(Popular litrature)* शब्दों का प्रयोग किया । सन् 1946 में *Villiam Tams* ने एक पत्रिका में पत्र प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने कहा कि *Folklore* शब्द का प्रयोग 'लोकप्रिय पुरातत्त्व सामग्री' शब्द के लिये किया जाना चाहिये । टाम्स ने फ़ोकलोर के अन्तर्गत रीति, प्रथा, विधि, विधान, अन्ध-विश्वास, लोक-गाथा तथा लोकोक्ति आदि को स्वीकार किया । उन्होंने फ़ोकलोर का अर्थ सर्वसाधारण जनता का ज्ञान अर्थात् *The lore of people* बतलाया । बाद में फोकलोर शब्द अत्यंत लोकप्रिय हुआ । प्रायः सभी देश के विद्वानों ने रीति-रिवाज, लोक-विश्वास, प्रथा तथा लोक साहित्य के अध्ययन के लिये इसी फ़ोकलोर को निस्संकोच स्वीकार किया गया । फ्रांस आदि देशों में परम्परा से प्रचलित शिल्पों, कलाओं और उद्योगों को फोकलोर माना ।

कुछ लोगों ने फ़ोकलोर के लिये अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया । सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्ववेत्ता *डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल* ने फोकलोर का हिन्दी पर्यायवाची 'लोकवार्ता' बताया, इस शब्द का चुनाव वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित *चौरासी वैष्णवों की वार्ता* तथा *दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता* आदि ग्रन्थों के आधार पर किया, परन्तु यह उचित नहीं लगता है क्योंकि इसका इतना सीमित अर्थ नही हो सकता, लोक वार्ता

शब्द का संस्कृत साहित्य में एक अन्य अर्थ भी है, संस्कृत कोशों में इसका अर्थ अफवाह, किम्वदन्ती लिखा है।[1] संस्कृत के सुप्रसिद्ध कोशाकार पण्डित वामन शिवराम आप्टे ने अपनी संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी में लोकवार्ता शब्द का अर्थ लोकप्रिय सूचना (Popular Report) या सार्वजनिक अफवाह (Public Rumour) दिया।[2]

सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी ने फ़ोकलोर के लिये 'लोकयान' शब्द के प्रयोग का सुझाव दिया ।[3] इन्होंने इस शब्द का निर्माण बौद्ध धर्म में प्रयुक्त हीनयान-महायान और वज्रयान के अनुष्ठान पर किया पर लोकयान शब्द से सामान्य जनता में प्रचलित किसी धर्म का बोध तो हो सकता है, किन्तु साधारण जन के रीति-रिवाजों, अंधविश्वासों, परम्पराओं और प्रथाओं का बोध कराने में सर्वथा असमर्थ है, अतः लोकयान को फोकलोर के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं है । इस प्रकार फ़ोकलोर के लिये लोक-संस्कृति का ग्रहण ही उचित है । डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इसी का समर्थन किया । जन-जीवन के आचार-विचार, विधि-निषेध, परम्परा, पूजा-पाठ, अनुष्ठान आदि सब फोकलोर या लोक-संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं । लोक-संस्कृति शब्द से जन-जीवन का चित्र सामने आता है।[4]

---

1 लोक-संस्कृति की रूपरेखा । कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ 20 ।

2 आप्टे – सस्कृत इग्लिश डिक्शनरी

3 लोक-सस्कृति की रूपरेखा । कृष्णदेव उपाध्याय से उद्धृत, पृष्ठ-25

4 लोक-सस्कृति की रूपरेखा –कृष्णदेव उपाध्याय,

लोक–साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् ए0 एन0 स्पिनोजा ने फ़ोकलोर (लोक-संस्कृति) की परिभाषा बताते हुए कहा[1] –'विश्वास, प्रथायें, अन्य परम्परायें, लोकोक्तियां, पहेलियां, गीत, पुराणकथा, ऐतिहासिक कथा, लोक-कथा, विधि-विधान, जादू-टोना, आदिम और अशिक्षित जनता के क्रिया-कलाप आदि जीवन शैली से सम्बद्ध सब कुछ लोक-संस्कृति में आता है ।'

लोक-संस्कृति की सुप्रसिद्ध विदुषी सोफिया बर्न के अनुसार – 'लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है, वह सभी इसके क्षेत्र में है, यह किसान के हल की आकृति नहीं, जो *फ़ोकलोरिस्ट* को अपनी ओर आकर्षित करती है, किन्तु वे अनुष्ठान जो किसान हल को भूमि में जोतने के समय करता है । जाल अथवा वंशी की बनावट नहीं, वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है । पुल अथवा घर का निर्माण नहीं, वरन् वह बलिदान जो उसको बनाते समय किया जाता है ।"[2]

इस तरह से फ़ोकलोर को कला, विश्वास, अनुष्ठान इन तीनों क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है । कला के क्षेत्र में लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाट्य, लोकोक्ति, मुहावरे, सूक्तियां, पहेली आदि तथा चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, कला, विभिन्न नृत्य आदि आते हैं ।

---

1 डिक्शनरी ऑफ फोकलोर माइथोलाजी एण्ड लीजेण्ड – मेरिया लीच भाग-1, पृष्ठ-399

2 ***A Hand Book of Folklore*** - Sofiya bern

विश्वास के क्षेत्र में विभिन्न जीवों, धर्म गाथाओं के चरित्रों से, भूतादि से सम्बन्धित विश्वास आते हैं। अनुष्ठान के कार्य आते हैं जो इन विश्वासों के कारण विभिन्न अवसरों पर आयोजित किये जाते हैं ।

फोकलोर शब्द की परिभाषा अनेक विद्वानों ने विभिन्न रूपों में दी है । *मेरियालीच* की *'डिक्शनरी ऑफ फोकलोर माइथोलॉजी एण्ड लीजेण्ड'* नामक एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक में फोकलोर के अनेक विद्वानों के मतों का वर्णन किया गया है । उसमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है।

1. *विलियम टॉम्स* ने फ़ोकलोर को जनता के रीति-रिवाज, प्रथा, विधि-विधान, अन्धविश्वास, लोकगाथा और लोकोक्ति आदि से सम्बन्धित बताया।

2. *विलियम बास्कम* कहते है-फ़ोकलोर का सम्बन्ध पुराण, गाथा, अवदान, लोक-कथा, लोकोक्ति, पहेली आदि विषयों से है, जिसका माध्यम मौखिक शब्द है । मानव विज्ञान शास्त्रियों के अनुसार फोकलोर का अध्ययन क्षेत्र प्रथायें, अन्धविश्वास, कला, शिल्प, वेश-भूषा, गृह के प्रकार और भोजन की साम्रगी आदि से है ।

3. *एरेलियो स्पिनोजा* के अनुसार फ़ोकलोर की साम्रगी अधिकांश रूप में 'सामाजिक मानव विज्ञान शास्त्र' *(Social Anthropology)* की साम्रगी के समान है ।

विशिष्ट रूप से फ़ोकलोर के अन्तर्गत लोक-विश्वास, प्रथायें, अन्धविश्वास, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, गीत, पुराण-कथा, अवदान, लोक-कथा,

धार्मिक संस्कार, जादू डायन-विद्या तथा आदिवासियों एवं अशिक्षित लोगों के क्रिया-कलाप आते है ।

4. ***जार्ज फास्टर*** के अनुसार फ़ोकलोर का अध्ययन क्षेत्र पहेलियाँ, गीतों, लोकोक्तियों लोक-विश्वासों तथा विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों तक विस्तृत है। x x x x x इसके अलावा बच्चों के खेल, पालने के गीत, संस्कार, विविध विधि-विधान तथा जादू एवं डायन-शास्त्र भी आता है ।

5. ***आर०डी० जेमसन*** का कथन है कि 'फ़ोकलोर सांस्कृतिक जाति विज्ञान *(Cultural Ethnology)* का एक अंग है । जिसके अन्तर्गत पुराण-कथा, अवदान, परम्परा, लोक-कथायें, अन्ध-विश्वास, धार्मिक विधि-विधान, प्रथायें, नृत्य तथा प्रकृति और मानव की विशेषतायें आती है।

6. ***मेक एडवर्ड लीच*** के अनुसार प्रथाओं, विश्वासों, परम्पराओं, लोक-कथाओं, जादूगरों के व्यवहारों, लोकोक्तियों तथा लोक गीतों से समझना चाहिये ।

इस प्रकार फ़ोकलोर अशिक्षित तथा एक समान जनता जो आपस में सामान्य शारीरिक सम्बन्धों से बंधे हुये हैं, की ज्ञान राशि है ।

7. ***आर्चर टेलर*** की परिभाषा के भीतर इन सभी विधाओं का अंतर्भाव हो जाता है । विभिन्न प्रकार की लोक-कथायें, लोक-गाथायें, लोकगीत, बालकों के गीत, जादू लोकोक्तियां और पहेलियां आदि ।

8. ***जरेट्रुड कुरथ*** का अभिप्राय है कि फ़ोकलोर वह विज्ञान है, जिसमें पारम्परिक लोक-विश्वास, लोक-कथा, अन्धविश्वास, सूक्ति, संस्कार, प्रथा, खेल तथा गीत और नृत्य का वर्णन किया गया है ।

9. ***मारिस बारब्यू*** ने लोक जीवन के समस्त क्रिया-कलापों में फ़ोकलोर का दर्शन किया है ।

10. ***जॉनमिश*** के अनुसार फोकलोर के अन्तर्गत हमारे समस्त प्राचीन लोकप्रिय विश्वासों, प्रथाओं और परम्पराओं का समावेश होता है । जो अशिक्षित जनता के बीच आज भी अवशेष रूप में सुरक्षित है । इसके साथ ही फोकलोर का क्षेत्र परीकथाओं, पुराण कथाओं, अवदानों, अन्धविश्वासों, व्रतों, विधि-विधानों, परम्परागत खेलों, लोक गीतों, जनप्रिय सूक्तियों, कला, शिल्प, लोक नृत्य तथा अन्य ऐसी वस्तुओं तक विस्तृत है।

लोक-संस्कृति की परिभाषाओं पर विचार करने से पता चलता है कि इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । इसके अन्तर्गत लोक-विश्वास, रीति-रिवाज, प्रकृति के जड़ एवं चेतन जगत् सम्बन्धी विश्वास तथा परम्परायें आदि सम्मिलित हैं अर्थात् लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तुऐं आ सकती हैं वह सब लोक-संस्कृति के क्षेत्र के भीतर है ।

निष्कर्ष

इस प्रकार सतत् प्रवाहशील पावन लोक-संस्कृति की धारा विरोधी परिस्थितियों से संघर्ष करते हुई समय के साथ-साथ बढ़ती जाती है । इस लोक-संस्कृति के संघर्षो में कंकण को शङ्कर बनाने की क्षमता है।

लोक–संस्कृति में इतनी शक्ति और क्षमता इसलिये है, क्योंकि वह अपने अतीत से प्रेरणा लेकर, वर्तमान में मजबूती से पांव टिका कर भविष्य की ओर बढ़ने की अदम्य लालसा रखती है । लोक–संस्कृति में ऐसे प्राणदायी स्रोत हैं, जो भारतीय जनजीवन और भारतीय संस्कृति को सशक्त और प्राणवान बनाये हुये है, अतः आज पुनः आवश्यकता है, उस नव चेतना की, जो व्यक्ति और समाज को जागृत करे, जिससे प्राचीन आदर्शों जीवन–मूल्यों और लोक–धारा पर पुनः बल दे।

द्वितीय अध्याय

संस्कृत रूपकों का सैद्धान्तिक-स्वरूप

भारतीय संस्कृत साहित्य के दो रूप श्रव्य और दृश्य मान्य है। दृश्य के अन्तर्गत नाट्य या रूपक आते हैं। नाट्य शब्द *नट्* धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है- दृश्य रूप में प्रस्तुत करना।

आचार्य धनञ्जय[१] के मतानुसार नाट्य दृश्य होने के कारण रूप तथा आरोप होने के कारण रूपक कहलाता है, अतः दशरूपक में नाट्य, *रूप* और *रूपक* शब्द दृश्यकाव्य के बोधक हैं। *धनिक* के मतानुसार नाट्य, रूप और रूपक शब्द इन्द्र, पुरन्दर एवं शक्र के समान एकार्थी है।[२] *आचार्य भरत* ने भी दशरूपक शब्द का प्रयोग किया है। *आचार्य विश्वनाथ*[३] के मत में नट पर रामादि के रूप का आरोप किये जाने के कारण उसकी रूपक संज्ञा है।

रूपक-भेद

रूपक दृश्यात्मक होने के कारण अपने युग की संस्कृति की अभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं। रूपकों में प्रतिबिम्बित लोक-संस्कृति पर विचार के पूर्व रूपकों के दस भेदों का लाक्षणिक विवेचन अनिवार्य है। प्राचीन घटनायें जब नाट्याभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं तब उनका स्वरूप भिन्न होता है, इन्हीं स्वरूप गत भेदों का अध्ययन कर आचार्यो ने नाट्य भेदों का विश्लेषण किया है। रूपक के भेद संख्या के विषय में अलग-अलग आचार्यो की अलग-अलग दृष्टि है।

---

१ अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥ दशरूपकम् - धनञ्जय, १/७।

२ नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत्, इत्येकस्मिन्नर्थे
प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः इतिप्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः। दशरूपकम्, पृष्ट ४।

३ दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु तु रूपकम्। साहित्यदर्पण, ६/पृष्ठ ३१६।

नाट्यशास्त्र[१] के अनुसार रूपक के दस भेद हैं- **नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम** तथा **ईहामृग।** इनमें से अङ्क को *आचार्य भरत* ने उत्सृष्टिकाङ्क भी कहा है।[२] *आचार्य भरत* ने इन दस भेदों के अतिरिक्त नाटक व प्रकरण के संयोग से सम्भव एक नाटिका या नाटी भेद भी माना है।[३]

आचार्य धनञ्जय[४] ने भी रसों पर आश्रित शुद्ध रूपक केवल दस ही माने हैं। आचार्य धनञ्जय के मत *'दशधैवरसाश्रयम्'* की व्याख्या करते हुए धनिक ने *'रसानाश्रित्य वर्तमान. दशप्रकारकम् एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण'* कहकर रूपकों के दस ही प्रकार होते हैं, इस तथ्य की पुष्टि की।[५]

आचार्य धनञ्जय की ही भांति *सागरनन्दी*[६] *शारदातनय*[७] तथा *आचार्य विश्वनाथ*[८] ने रूपकों के भेद निरूपण में आचार्य भरत का ही अनुकरण किया है। इस प्रकार रूपक के दस ही भेदों को प्राय: समस्त आचार्यों ने स्वीकर किया है किन्तु

---

१ नाट्यशास्त्र २०/२-३

२ नाट्यशास्त्र - २०/८

३ नाट्यशास्त्र - २०/६२-६४

४.(क) दशधैव रसाश्रयम् - दशरूपकम्, १/७

(ख) नाटकं सप्रकरणं भाण. प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगी इति। दशरूपकम् १/८

५ दशरूपकम् -- पृष्ठ ४

६. अभिनेयं नाटकं प्रकरणं प्रहसनम् अङ्कः व्यायोगः भाणः समवकारः वीथी डिमः ईहामृगश्चेति दशैतानि रूपकाणि- नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ २

७ भावप्रकाशनम् - ७

८ नाटकमथप्रकरणं भाणव्यायोग समवकार डिमः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश। साहित्यदर्पण, ६/3

नाट्यदर्पणकार[१] द्वारा प्रस्तुत रूपक भेद में कुछ भिन्नता है, इन्होंने भरत द्वारा बताये गये दस भेदों के साथ नाटिका तथा प्रकरणी ये दो और भेद स्वीकार किया है। नाट्य दर्पणकार की ही भांति काव्यानुशासन के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ने भी भरतमुनि के दस भेदों को तो स्वीकार किया ही है, साथ ही नाटिका और सट्टक इन दो भेदों को और जोड़कर रूपक के बारह भेद किया है।[२]

इसी प्रकार कहीं - कहीं नाट्य एवं नृत्य के मध्य अभेद मानने से भी रूपक भेदों की संख्या में मत वैभिन्य आया है। ऐसे ही अभेद के फलस्वरूप *अग्निपुराण*[३] में नाटक प्रकरण में सत्ताईस भेदों की गणना स्वीकार की गयी है।

जबकि नाट्य नृत्य से सर्वथा भिन्न है, 'नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति' *नट् अवस्पन्दने* धातु से हुई है।[४] यहाँ नट् धातु का अर्थ है अवस्पन्दन या कुछ-कुछ चञ्चलता। अतः नाट्य में सात्विक अभिनय की बहुलता होती है, इसीलिये नाट्य विशारद 'नट' कहलाते हैं। गात्रविक्षेप के समान रूप से दोनों में पाये जाने पर भी नृत्य नृत्त से सर्वथा भिन्न इसीलिये है कि नृत्य में अनुकरण पाया जाता है नृत्त में नहीं, इस प्रकार वाक्यार्थ रूप वाचिक अभिनय वाले से पदार्थ रूप आंगिक अभिनय वाला नृत्य भी अलग ही है।[५]

---

१. **नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ।**
व्यायोगः समवकारो भाणः प्रहसनं डिमः। नाट्यदर्पण, सूत्र-३

२ **पाठ्यं नाटकप्रकरणनाटिकासमवकारेहामृगडिमव्यायोगोत्सृष्टिकाङ्कः प्रहसन भाण वीथी सट्टकादि।** - काव्यानुशासनम् - ८/३

३ **अग्निपुराण, १७५, १/८**

४ **नाट्यमिति च 'नट्अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम् अतएव तत्कारिषु नटव्यपदेश; पर धनिक की टीका।**

५ **अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम् -** दशरूपकम्

'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है, गात्र-विक्षेप अर्थात् आङ्गिक अभिनय की बहुलता। जबकि नाट्य में चारों तरह के अभिनय पाये जाते हैं। नृत्य कला विशारद नर्तक कहलाते हैं, नट नहीं। नृत्य केवल दृश्य है, श्रव्य नहीं। इसमें कथोपकथन का अभाव होता है, तथा लौकिक व्यवहार के लिये 'अत्रप्रेक्षणीयम्' ऐसा प्रयोग होता है जबकि नाटक आदि रूपक कोरे भाव पर आश्रित न होकर रस परक होते हैं।

नाटक में कथोपकथन आवश्यक होता है, जबकि नृत्य में केवल गात्र विक्षेप से ही भावाभिव्यञ्जना होती है। नाट्य या रूपक का उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक हैं, नृत्य का उदयशङ्कर का भाव नृत्य।

इस प्रकार कहीं उपरूपक के कुछ भेदों की गणना के कारण, तथा नाट्य नृत्य के पार्थक्य की अवहेलना के कारण कुछ आचार्यो ने रूपक के दस से अधिक भी भेद माने हैं, परन्तु नाट्यशास्त्र के *आचार्य भरतमुनि* के द्वारा रूपक के दस ही भेद माने गये हैं, और परवर्ती आचार्यों को भी यही मान्य है, इसी मान्यता का निर्वहण आगे के शास्त्रों में भी किया गया है, अतः निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि रूपकों की संख्या में मतभेद होने के बाद भी प्रामाणिक रूप से रूपक भेद के दस ही प्रकार हैं, यही सर्वमान्य हैं।

नाटक

समस्त रूपक भेदों में सर्वाधिक विकसित रूप नाटक का है। दृश्य-काव्य की समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण इसकी गणना समस्त रूपकों में अग्रणी रूप में हुई है। नाटक का सर्वव्यापी स्वरूप भी इसके महत्त्व और प्राधान्य का कारण है, जिसमें जीवन और जगत् के समस्त भावों, समस्त रसों, समस्त कर्मो तथा नाना अवस्थाओं का समावेश मिलता है।

आचार्य भरत[1] के मत में नाटक की वस्तु तथा नाटक दोनों प्रख्यात एवं उदात्त होते हैं। आचार्य भरत के इस मत से समस्त नाट्याचार्य सहमत हैं कि नाटक की कथावस्तु तथा नायक दोनों प्रख्यात होने चाहिये।

नाटक में रस के विषय में भी समस्त आचार्य एकमत हैं, उनके मतानुसार वीर तथा शृङ्गार की अङ्गी-रस के रूप में प्रतिष्ठा होना चाहिये। *दशरूपककार*[2] ने रस का परिपाक नाटक में पूर्ण तथा अनेक रूप से निर्दिष्ट किया है। *नाट्यशास्त्रकार*[3] *शारदातनय*[4] तथा *साहित्यदर्पणकार* ने वीर तथा शृङ्गार की महत्ता को नाटक में स्वीकार किया है।[5]

नाटक में मुख्य-रस की स्थिति को लेकर किञ्चित् मतभेद प्राप्त होता है। नाटक में शांत रस के अस्तित्व को लेकर बड़ा मत वैभिन्न्य है। शांत रस के अभाववादी आचार्यों ने मुख्यतः नाट्य में शांत रस के निषेध का उल्लेख किया है, उनके अनुसार अनभिनेय होने के कारण शांत रस का आस्वाद सम्भव नहीं है, क्योंकि शम की स्थिति में व्यक्ति की सभी लौकिक प्रक्रियाओं का लोप हो जाता है, तथा समस्त व्यापाराभाव का अभिनय असम्भव होने के कारण शम का स्थायित्व भी निषिद्ध हो जाता है।[6] शांत की इसी अनभिनेयता के कारण प्रतिपक्षी आचार्यों ने नाट्य में उसका अपरिपोष भी स्वीकार किया है, इसी कारण धनञ्जय कहते हैं— ***" शममपि केचित्याहु :***

---

१ प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकञ्चैव। नाट्यशास्त्र, २०/१०

२ भूयो रसपरिग्रहात् । दशरूपकम्, तृतीय प्रकाश

३ नानारसभावाचेष्टितम् बहुधा। नाट्यशास्त्र, २०/१२

४ वीरशृङ्गारयोरन्यतराङ्गि रसनिर्भरम् । भावप्रकाशनम्, ८/११०

५ एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा। साहित्यदर्पण, ६/१०

६ "यश्चास्मिन्सुखाभावोऽव्यक्तस्तस्य वैषयिकसुख परत्वान्न विरोधः।" साहित्यदर्पण पृष्ठ २६५

पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।"(2)

वस्तुतः दशरूपककार धनञ्जय तथा टीकाकार धनिक का समस्त निरूपण शान्त रस के आत्यन्तिक अभाव को नहीं अपितु उसके अनभिनेय रूप निषेध को सूचित करता है।

शान्त रस की अनभिनेयता के विरोध में शांत रस के समर्थक आचार्यो ने कहा- शान्त कोई निश्चेष्ट अभिव्यक्ति नहीं, उसमें भी यथायोग व्यभिचारियों का समावेश रहता है, इन व्यभिचारिभावों से युक्त शम की भी अनुभूति हो सकती है, इस प्रकार शान्त की अभिनयात्मक अभिव्यक्ति सम्भव है।[१]

शान्त विरोधी एक यह भी तर्क देते हैं कि शान्त रस अननुभूत होता है, इसका खण्डन करते हुये पण्डितराजजगन्नाथ कहते हैं कि रस का आस्वाद प्रयोजन नट को नहीं, अपितु सहृदय को होता है, नट जैसे शिक्षा एवं अभ्यास के कारण तत्काल अविद्यमान क्रोधादि का अभिनय करता है, वैसे ही शम का भी कर सकता है, सहृदय में यदि शम की भावना है, तो उसे शान्त रस का आस्वाद भी अवश्य मिलेगा।[२] तथा साथ ही नाटक में शान्त रस के निषेध का एक यह भी कारण है कि रस के विवेचनात्मक युग के प्रारम्भिक इतिहास में ऐसी कृति का अभाव था, जिसमें शम की प्रधानता अभिव्यक्त की गयी हो, भरत अन्य रसों के व्यभिचारि के रूप में निर्वेद का

---

१ (क) मात्सर्यमुत्सार्थ . .. . दशरूपकम् पृष्ठ, २२०

(ख) एकेनाक्ष्णा .. .. दशरूपकम् , २२२

२ नटे शमाभावादिति हेतुरसंगतः नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात्।

सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोदबोधे बाध का मात् । रसगंगाङ्गाधर पृष्ठ १३३

उल्लेख करते हैं।[१]

इस प्रकार शान्त रस विवाद ग्रस्त रहा है। नाट्य में शांत रस का वर्णन प्रथमतः बौद्ध नाटक 'नागानन्द में किया गया, जिसमें शान्तरस विषयक महान् विवाद उत्पन्न हो गया परन्तु शान्त का पूर्ण समर्थन करने वाले आचार्य भी नागानंद में शांतरस के अप्राधान्य को ही घोषित करते हैं।

कालान्तर में शान्त रस की पूर्ण स्थापना हो जाने के पश्चात् ही ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने अद्वैत वेदांत तथा वैष्णव धर्म का समन्वित रूप अभिव्यक्त करने वाले *'प्रबोध-चन्द्रोदय'* नामक नाटक की रचना की थी।

रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेश भट्ट ने भी मर्मप्रकाश टीका में 'प्रबोधचन्द्रोदय' का उल्लेख शान्तरसवादी नाटक के रूप में किया।[२]

नाटक में वस्तु का विन्यास, कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों के अनुरूप किया जाना चाहिये। कथा के मध्य में विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकों का भी नियोजन किया जाना चाहिये। एक अङ्क में एक ही दिन के प्रयोजन से किये गये कार्यो का वर्णन होना चाहिये तथा प्रत्येक अङ्क को नायक से सम्बन्धित होना आवश्यक है, इसका समर्थन आचार्य भरत[३] एवं धनञ्जय[४] ने किया है। नायक के अतिरिक्त एक अङ्क में दो या तीन पात्र और हो सकते हैं। इन पात्रों का अङ्क के

---

१ नाट्यशास्त्र अंक-७ पृष्ठ ११३।

२ रसगङ्गाधर, मर्मप्रकाशटीका, पृष्ठ १५६

३. एकदिवसप्रवृत्त : .... । नाट्यशास्त्र, २०/२४

४ एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम्।
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः। दशरूपकम्, ३/३६, पृष्ठ-१६८

अन्त में निकलना आवश्यक है, इस तथ्य को *आचार्य धनञ्जय तथा आचार्य विश्वनाथ*[१] ने स्पष्ट किया है। नाटक में नायक के दिव्य एवं अदिव्य चरित को लेकर मत-वैभिन्य है।

भरत मुनि[२] ने नाटक में दिव्य-चरित को केवल आश्रय के रूप में स्वीकारा है नायक के रूप में नहीं। *अभिनवगुप्त* ने भरत द्वारा निर्दिष्ट *दिव्याश्रयोपेतं* की व्याख्या में कहा कि दिव्यचरित को नाटक में नायक नहीं बनाना चाहिये क्योंकि दिव्यचरित से मनुष्य को उपदेश नहीं दिया जा सकता[३]। अतः दिव्यचरित का आश्रय होना चाहिये. दिव्यचरित का नायक नहीं होना चाहिये परन्तु नाटक में नायिका दिव्य हो सकती है।[४]

नाट्यदर्पणकार[५] ने भी भरत के मत का अनुसरण करते हुए नाटक में दिव्य नायक का निषेध किया है। इन्होंने दिव्य नायक को पताका प्रकरी के नायक के रूप में मान्यता दी है, इनका मानना है कि दिव्य पात्र होने पर नाटक सामान्य जन के लिये उपदेशप्रद नहीं होगा तथा अभिनवगुप्त की ही भांति *नाट्यदर्पणकार*[६] ने भी नायिका को दिव्य रूप में हो सकती है, ऐसा निर्दिष्ट किया है।

---

१ साहित्यदर्पण - ६/११, पृष्ठ - २६६।

२ प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकम्।
राजर्षिवंश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम्। नाट्यशास्त्र, २०/१०

३ नाट्यशास्त्र - २०/१० पर अभिनवभारती

४ नाट्यशास्त्र - २०/१० - १२ पर अभिनवभारती।

५. नाट्यदर्पण - पृष्ठ, २०

६ नाट्यदर्पण - पृष्ठ, २०

दशरूपककार[१] ने भरत तथा नाट्यदर्पणकार के विपरीत नाटक में प्रख्यात-वंशीय तथा दिव्य दोनों प्रकार के नायक स्वीकार किये हैं तथा आचार्य *विश्वनाथ* ने साहित्यदर्पण में नायक की कल्पना प्रख्यात वंशोत्पन्न राजर्षि के रूप में की है और ये नायक दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य में से कोई भी हो सकता है।[२] दुष्यन्त राजर्षि नायक हैं, श्रीकृष्ण दिव्य तथा श्रीराम दिव्यादिव्य नायक माने जा सकते हैं।

भावप्रकाशनम् [३] में शारदातनय के अनुसार नाटक में दिव्य, मर्त्य आदि विख्यात धीरोदात्त नायक होते हैं। इस प्रकार नायक की अवधारणा को लेकर विविध आचार्यों के विविध मत प्राप्त होते हैं।

नाटक के सम्बन्ध में अङ्कों के क्रम-विन्यास के विषय में भरतमुनि[४], *आचार्य विश्वनाथ*[५] एवं *नाट्यदर्पणकार*[६] ने गोपुच्छ-शैली का निर्देश दिया है, गोपुच्छ शैली से यह तात्पर्य है कि नाटक के अङ्कों का क्रमशः छोटा होता जाना है। *क्रमेणाङ्का: सूक्ष्मा: कर्त्तव्या:* ऐसा कहा गया है, कुछ अन्य नाट्य मर्मज्ञों ने गोपुच्छ शैली का अभिप्राय यह बताया कि जैसे गोपुच्छ में कुछ बाल कहीं छोटे होते हैं, और कहीं बड़े, वैसे ही नाटक में भी कुछ वृत्त-वर्णन ऐसा हुआ करते हैं, जो मुखसन्धि में ही समाप्त हो जाया करते हैं। कुछ ऐसे, जो प्रतिमुख-संधि में समाप्त होते हैं, और इसी भांति कुछ गर्भ में

---

१ दशरूपकम् - ३/२३ पृष्ठ, १६३

२ साहित्यदर्पण - ६/१०, पृष्ठ, ३६३

३ दिव्यमानुषसंयोगो ...। भावप्रकाशनम्, ८/११३

४. कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्त्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य। नाट्यशास्त्र, २०/४६

५ गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्। साहित्यदर्पण, ६/११

६ नाट्यदर्पण - प्रथमविवेक, सूत्र - १७

कुछ विमर्श में और कुछ निर्वहण में समाप्त हुआ करते हैं।

शारदातनय[१] ने भावप्रकाशनम् में सुबन्धु द्वारा गिनाये गये पाँच प्रकार के नाटकों का वर्णन करते समय पाँचों सन्धियों की योजना का निर्देश दिया है तथा *आचार्य भरत*[२] के अनुसार नाटक में पाँच से कम तथा दस से अधिक अङ्क नहीं रखना चाहिए। अङ्कों की इसी संख्या की ओर निर्देश *साहित्यदर्पणकार* ने भी किया है।

प्रकरण

आचार्य भरतमुनि[३] ने नाट्यशास्त्र में प्रकरण के विषय में निर्दिष्ट किया है कि प्रकरण की कथावस्तु में कल्पित कथा को नाटक के कलेवर में आवृत्त करके प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

दशरूपककार[४] ने प्रकरण की कथावस्तु को कविकल्पित बताया, साथ ही इसे लोक स्तर का भी निर्दिष्ट किया है। *भावप्रकाशकाशनकार*[५] एवं *साहित्यदर्पणकार*[६] ने आचार्य धनञ्जय का समर्थन किया है। नाटकलक्षणरत्नकोश में *सागरनन्दी*[७] ने भी प्रकरण की कथावस्तु कल्पित बतायी है।

---

१. भावप्रकाशनम् - ८/११६,११७

२ पञ्चापरा दशपरा ह्यङ्क : ..... । नाट्यशास्त्र, २०/१९

३. यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तुशरीरञ्च नायकञ्चैव। नाट्यशास्त्र, २०/४९

४ अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्। दशरूपकम्, ३/६९

५. इतिवृत्तमथोत्पाद्यमत्र प्रकरणे मतम् । भावप्रकाशनम्, अष्टमोध्याया / १४०

६ भवेत्प्रकरणे वृत्त लौकिकं कविकल्पितम्। साहित्यदर्पण, २२४/६

७. कविना वस्तुशरीरं नायकश्चोत्पाद्यते । नाटकलक्षणरत्नकोश -सागरनन्दी, पृष्ठ - २६३

प्रकरण के नायक के विषय में *नाट्यशास्त्रकार*[१] ने उदात्त नायक का निषेध किया तथा यह भी कहा कि प्रकरण का नायक दिव्यपात्र नहीं है।

दशरूपकम्[२] में प्रकरण का नायक धीरप्रशांत निर्दिष्ट किया गया तथा अमात्य 'विप्र' वणिक् में से कोई एक नायक होता है।[३] *साहित्यदर्पणकार*[४] ने भी दशरूपककार का समर्थन किया है तथा *नाट्यदर्पण*[५] में भी यही बात कही गयी है।

साहित्यदर्पण[६] के अनुसार प्रकरण में प्रधान रस शृङ्गार होता है।

नाट्यदर्पणकार[७] ने प्रकरण को सात प्रकार का बताया। उक्त विभाजन नायक के फल या वस्तु की काल्पनिकता के आधार पर किया गया तथा कुलस्त्री, वेश्या के आधार पर इन सात भेदों के इक्कीस प्रकार के उपभेद होते हैं।[८]

नायिका के ही आधार पर *साहित्यदर्पण*[९] में भी प्रकरण के भेद तीन प्रकार के बताये हैं।

---

१ नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगम् । नाट्यशास्त्र, २०/५३

२ धीरप्रशान्त सापायं धर्मकामार्थतत्परम् । दशरूपकम्, ४०/३

३ अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् । दशरूपकम् ३९/३

४ नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवावणिक् ।
सापायधर्मकामार्थपरा धीरप्रशान्तकः – साहित्यदर्पण, २२५/६

५ प्रकरणं वणिग् विप्रसचिवं स्वाम्यसङ्करात्। नाट्यदर्पण , ६६

६. साहित्यदर्पण – आचार्य विश्वनाथ, २२५/६

७ प्रकरणनाटकविषये पञ्चाद्या दशपरास्तथा चैव। नाट्यशास्त्र, २०/५८

८ विटे पत्यौ द्वयं तस्मादेकविंशतिऽप्यदः । नाट्यदर्पण, ६८

९ नायिका कुलजा क्वापि वेश्या, क्वापि द्वयं क्वचित्।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तत्तीयकः । साहित्यदर्पण, ६/२२६

प्रकरण पात्र-बहुल रूपक भेद है। *नाट्यशास्त्र*[१] के अनुसार पात्र-बहुलता पर प्रकरण में दास विट, श्रेष्ठि तथा वेश्या जैसे पात्रों का निवेश रहता है। *साहित्यदर्पण* [२] में सङ्कर प्रकरण में धूर्त, द्यूतकर विट, चेटि आदि का चित्रण निर्दिष्ट किया है।

नाटकलक्षणरत्नकोश[३] में भी विविध पात्र बहुलता का निर्देश है।

स्त्री पात्रों के विषय में *नाट्यशास्त्र*[४] में भरतमुनि ने निर्देश किया है कि प्रकरण में स्त्री पात्रों में वेश्या के चरित का निवेश रहता है तथा कुलस्त्री का चरित अल्पमात्रा में रहता है। तथा गृहसम्बन्धी कथा में गणिका पात्र का निषेध रहना चाहिये।[५] इसी प्रकार *नाट्यदर्पणकार*[६] के अनुसार भी गृहवार्ता में कुलस्त्री, उसके विपरीत में वेश्या, विट (धूर्तपति रूप में वर्णित) होने पर कुलस्त्री और वेश्या दोनों नायिकाएँ हो सकती है, तथा प्रकरण की नायिका को मध्यम कुल की बताया।[७] *साहित्यदर्पणकार*[८] ने भी यही कहा।

---

१ दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्रयुपचारकारणोपेतम्।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु। नाट्यशास्त्र, २०/५४

२ कितवद्यूतकारादिविटचेटसंकुलः । साहित्यदर्पण, ६/२२७

३ श्रेष्ठितापसविटादिजनभूषितञ्च । नाटकलक्षणरत्नकोष, २६४

४ नाट्यशास्त्र - ५४

५ गृहवार्ता यन्भवेन्न तत्र वेश्याङ्गना कार्या। नाट्यशास्त्र २०/५५

६ कुलस्त्री गृहवार्तायां भवेन्न तत्र वेश्याङ्गना कार्या । नाट्यशास्त्र, २०/५५

७. मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितं मध्यचेष्टितम्। नाट्यदर्पण, ६६

८ नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् । साहित्यदर्पण, २२६

समवकार

दशरूपकम् में समवकार की परिभाषा इस प्रकार दी है। *'समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः।*[१]

नाट्योत्पत्ति की कथा में स्वर्ग में सर्वप्रथम अभिनीत रूपक 'अमृत-मन्थन' समवकार ही बताया गया है। *भरत*[२] ने इसे देवासुरबीजवृत्तं' कहा। *धनञ्जय*[३] *सागरनन्दी*[४] *शारदातनय*[५] तथा *विश्वनाथ*[६] भी भरत के मत से पूर्णतया सहमत हैं, कि समवकार में देवों तथा असुरों के सम्बन्ध की इतिहास-पुराणादि प्रसिद्ध कथा निबद्ध की जाती है। *नाट्यदर्पणकार* के मत में भी समवकार की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है।[७] *भरत*[८] तथा उनके परवर्ती समस्त नाट्याचार्यों ने समवकार में नायकों की संख्या बारह निर्धारित की है।

नाटक की जाति के विषय में आचार्य विंश्वनाथ का मत भिन्न है। समस्त आचार्यो के मत में समवकार में नायक उदात्त चरित वाले देव दानव होते हैं, पर

---

१ दशरूपकम् / तृतीय प्रकाश पृष्ठ - १७९ डा० भोला शंकर व्यास

२ नाट्यशास्त्र — २०/६५

३ ख्यातं देवासुरं वस्तु ....सन्धराः । दशरूपकम्, ३/६३

४. स च देवासुरवीर्यकृतः । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ - २७६

५ देवासुरेतिवृत्त यत्प्रख्यातं लोकसम्मतम् । भावप्रकाशन, ८/१८४

६ वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् । साहित्यदर्पण, ६/२३४

७ विज्ञेयः समवकारः ख्यातार्थो निर्विमर्शकः - नाट्यदर्पण सूत्र, ७६/द्वितीयविवेक

८.क द्वादश नायकबहुलो ...... । नाट्यशास्त्र, २०/६६

ख दशरूपकम् - ३/६४

ग साहित्यदर्पण - ६/२३४, २३५

घ नाटकलक्षणरत्नकोश - पृष्ठ - २६७

ङ भावप्रकाशनम् - ८/८४

आचार्य विश्वनाथ[१] ने धीरोदात्त नायक देवता व मनुष्य माना। आचार्य की इस परिभाषा में वदतोव्याघात है क्योंकि समवकार के लक्षण में उन्होंने इतिवृत्त को देव, दानव से सम्बद्ध माना[२], ऐसी अवस्था में मानव-पात्र की योजना कैसे सम्भव है।

भरत[३] के मतानुसार समवकार में तीन प्रकार का कपट, तीन प्रकार का विद्रव, तीन प्रकार का शृङ्गार होता है तथा अङ्क भी तीन प्रकार का होता है। समस्त परवर्ती आचार्यो ने इस मत को स्वीकार किया है।[४]

समवकार के कथा-विस्तार के विषय में आचार्य भरत[५] के मत का अनुसरण करते हुए *आचार्य धनञ्जय*[६] *आचार्य विश्वनाथ*[७] व *शारदातनय* [८] ने स्वीकार किया है कि इसमें प्रथमाङ्क की कथा बारह नालियों की द्वितीयाङ्क की चार तथा तृतीयङ्क की तीन नालियों की होती है, किन्तु *सागरनन्दी*[९] ने प्रथमाङ्क तथा द्वितीयाङ्क का

---

१ नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः । साहित्यदर्पण, ६/२३५

२ वृतं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्। साहित्यदर्पण, ६/२३४

३ ....त्रिकपटस्त्रिविद्रवः स्यात् त्रिशृङ्गारः। नाट्यशास्त्र, २०/६६

४ क अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्तिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः । दशरूपकम्, ३/६५

ख. नाटकलक्षणरत्नकोश - पृष्ठ, २६९

ग साहित्यदर्पण - ६/२३८

घ. भावप्रकाशनम् - ८/१८४

ङ अङ्कास्त्रयः त्रिशृङ्गाराः त्रिकपटाः त्रिविद्रवाः। नाट्यदर्पणसूत्र, ७७/द्वितीय विवेक

५ नाट्यशास्त्र - २०/६८,६९

६. दशरूपकम् - ३/६५, ६६

७ साहित्यदर्पण - ६/२३८, २३९

८ भावप्रकाशनम् - ८/१८४

९ नाट्कलक्षणरत्नकोश - पृष्ठ - २६९

काल बारह व चार नालियों का मानते हुए तृतीयाङ्क को आवश्यकतानुसार माना है।

समस्त आचार्यो[१] ने समवकार को विमर्श–सन्धि से हीन माना है, समवकार का अङ्गी रस वीर है, इस मत से समस्त आचार्य सहमत हैं।

आचार्य धनञ्जय,[२] *आचार्य विश्वनाथ*[३] के मतानुसार इसमें कैशिकी वृत्तियां प्रयुक्त होनी चाहिये। *सागरनन्दी*[४] के भी मतानुसार कैशिकी वृत्ति का प्रयोग समवकार में नहीं होता है, पर यह प्रश्न उठता है कि बिना कैशिकी के शृङ्गार कैसे होगा ? इसका समाधान सागरनन्दी यह कहकर करते हैं कि कैशिकी वृत्ति का प्रयोग सामान्यत: किया जा सकता है।

समवकार में वीथ्यङ्गों की योजना समस्त आचार्यों[५] को मान्य है। *आचार्य*

---

१ क **ख्यातं ..... निर्विमर्शास्तु सन्धयः** । दशरूपकम्, ३/६३

ख **विज्ञेय .... निर्विमर्शकः** । नाट्यदर्पण सूत्र, ७६

२ क **बहुवीर रसाः** । दशरूपकम्, ३/६४

ख **उदात्तदेव दैत्येशो वीथ्यङ्गी वीर रौद्रवान्।** नाट्यदर्पण सूत्र, ७६ / द्वितीय विवेक

ग **वीरमुख्योऽखिलो रसः** । साहित्यदर्पण, ६/२३६

घ **भावप्रकाशनम्** – ८/१८४

३ **वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः।** दशरूपकम् ३/६३

४ **शुद्धाकैशिकी (चात्र) कर्त्तव्या** । नाटक लक्षण रत्न कोश, पृष्ठ – २६९

५ क **नाट्यशास्त्र** – १०/७०

ख **वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।** दशरूपकम्, ३/६८

ग **नाट्यशास्त्र सूत्र – १२६**

घ. **साहित्यदर्पण** – ६/२३६

ङ **वीथ्यङ्गानि यथालाभमामुख नाटकादिवत्।** भावप्रकाशनम्, ८/१८९

धनञ्जय[1] तथा *शारदातनय*[2] के मतानुसार इसमें बिन्दु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग नहीं होता है।

भरतमुनि[3] तथा *शारदातनय*[4] के मतानुसार समवकार में कविजन को उष्णिक् या गायत्री छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्दों का प्रयोग करना चाहिए।

भाण –

रूपक-भेद भाण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक पात्र से अभिनीत होता है, तथा वह पात्र अपने अनुभव की बात कहता है, या किसी अन्य व्यक्ति के बातों का वर्णन करता है।

नाट्यशास्त्रकार[5] ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, तथा *आचार्य धनञ्जय*[6], *शारदातनय*[7], *आचार्य विश्वनाथ*[8], *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[9] *तथा सागरनन्दी*[10] ने आचार्य भरत का समर्थन किया है।

---

१ धर्मार्थकामः श्रृङ्गारो नात्र बिन्दु प्रवेशकौ। दशरूपकम्, ३/६७

२ शृङ्गरात्रितयं यत्र नात्र बिन्दुप्रवेशकौ। भावप्रकाशनम्, ८/१८९

३ उष्णिग्गायत्री वा यानि तथान्यरनि बन्धुकुटिलानि। नाट्यशास्त्र, २०/७७

४. भावप्रकाशनम् - ८/१९१

५ आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु।
द्विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च। नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, २०/१०९

६ भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः। दशरूपकम् धनञ्जय, ४९

७ भावप्रकाशनम् -- १२१/८ अधिकार

८ रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा। साहित्यदर्पण, २२८

९ नाट्यदर्पण - १८२ / द्वितीय विवेक

१० नाटकलक्षणरत्नकोश- पृष्ठ- २७०

भाण के स्वरूप पर विचार करने के बाद, भाण में निहित अङ्क पर विचार की आवश्यकता है। *नाट्यशास्त्र*[१] के अनुसार भाण में एक अङ्क तथा आकाशभाषित होना चाहिए। तथा इसी का समर्थन *दशरूपककार*[२], *भावप्रकाशनकार*[३], *साहित्यदर्पणकार*,[४] *नाट्यदर्पणकार*[५] तथा *नाटकलक्षणरत्नकोशकार*[६] ने भी किया है।

भाण का नायक धूर्तचरित हो, यह बात सभी आचार्यों[७] ने स्वीकार किया। *दशरूपककार*[८] ने भाण में सौभाग्य तथा शौर्य के वर्णन द्वारा शृङ्गार तथा वीर रस की सूचना का निर्देश दिया है। *साहित्यदर्पणकार*[९], *रामचन्द्रगुणचन्द्र*[१०] ने *आचार्य धनञ्जय* का ही समर्थन किया है।

---

१ नाट्यशास्त्र – १०९, ११०, १११– भरत

२ दशरूपकम् – ३/४९,५०

३ भावप्रकाशनम् – ८/१५१,१६०

४ साहित्यदर्पण – २२८/२२९

५ नाट्यदर्पण – सूत्र – ८२

६ नाटकलक्षणरत्नकोश –पृष्ठ, २७०

७ क नाट्यशास्त्र – २०/१११

ख दशरूपकम् – ३/५१

ग. भावप्रकाशनम्

घ. साहित्यदर्पण – २२८

ङ. नाट्यदर्पण – सूत्र – ८२

च नाटकलक्षणरत्नकोश – पृष्ठ – २७०

८ सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवः। दशरूपकम्, ३५०

९ भाण· स्याद् धूर्तचरितो .... । साहित्यदर्पण, ६/२८७

१० भाण· प्रधानशृङ्गार वीरो मुखनिर्वाहवान् । नाट्यदर्पण द्वितीय विवेक सूत्र ८१

नाट्यशास्त्र[१] में भाण का नायक कुशल, बुद्धिमान विट एक कला-पारंगत कहा गया है, तथा *आचार्य धनञ्जय*[२] ने नायक को अत्यधिक चतुर रूप में निर्दिष्ट किया है। *काव्यनुशासन,*[३] *साहित्यदर्पण*[४], तथा *नाट्यदर्पण*[५] में इसी का समर्थन किया है।

नाट्यशास्त्रकार[६] ने भाण में मुख और निर्वहण-सन्धि को स्वीकार किया है। *साहित्यदर्पण*[७] में मुख, निर्वहण-सन्धि तथा दस लास्याङ्ग भी स्वीकार किये हैं। नाट्यदर्पणकार[८] ने इसी का समर्थन किया है। भावप्रकाशनम् में भी मुख तथा निर्वहण सन्धि की योजना बतायी गयी है।[९]

साहित्यदर्पण[१०] तथा दशरूपक[११] में कथावस्तु को कल्पित बताया। भाण में भारती वृत्ति की प्रधानता होती है। दशरूपककार[१२] तथा नाट्यदर्पणकार[१३] ने इसका

---

१ धूर्तविटसमप्रयोज्यो .... बुधैः। नाट्यशास्त्र, २०/१११

२ दशरूपकम् - ३/४९

३ काव्यानुशासनम् - ८/३ पृष्ठ-४४३

४ साहित्यदर्पण - २२८

५ नाट्यदर्पण - २/८२

६ नाट्यशास्त्र

७ साहित्यदर्पण - ६/२३०

८ नाट्यदर्पण - २७/८२

९ मुखनिर्वहणप्रायसन्धियुग्रूपकं च यत् । ८/१६०

१० तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्ति : प्रायेण भारती । साहित्यदर्पण - पृष्ठ २३०

११. ... . . वस्तु कल्पितम् । दशरूपकम् , ३/५१

१२ दशरूपकम् - ३/५१

१३ वृत्तिर्मुख्या च भारती । नाट्यदर्पण, २/८२

समर्थन किया। आचार्य विश्वनाथ[१], शारदातनय[२], तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र भी भारती वृत्ति को स्वीकार करते हैं, पर कहीं-कहीं कैशिकी-वृत्ति को भी स्वीकार किया गया है।

वीथी

नाट्यशास्त्रकार[३] में वीथी ने एक अङ्क तथा एक या दो पात्रों का निर्देश दिया है। *दशरूपक*[४] तथा *भावप्रकाशन*[५] में इसी का समर्थन किया गया है। *साहित्यदर्पण*[६] में एक अङ्क तथा एक पात्र का ही निर्देश किया गया है। *नाट्यदर्पणकार*[७] ने दशरूपक तथा भावप्रकाशन का समर्थन करते हुए वीथी में एक अङ्क तथा एक या दो पात्रों को स्वीकार किया है। *नाटकलक्षणरत्नकोश*[८] में वीथी के लिए एक अङ्क तथा तीन पात्रों का निर्देश दिया गया है।

पात्रों के विषय में *नाट्यशास्त्रकार*[९] कहते हैं कि वीथी में उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकृति के पात्र रखे जा सकते हैं। *साहित्यदर्पणकार*[१०] ने नायक में उत्तम,

---

१ तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्ति प्रायेण भारती। साहित्यदर्पण, ६/२३०

२. भावप्रकाशनम् - ८/१५१

३ वीथी स्यादेकाङ्का तथैकहार्या द्विहार्या वा। नाट्यशास्त्र, २०/११३

४ दशरूपकम् - ३/६, ३/३९

५. एकाङ्कैव भवेद्वीथी द्वाभ्या वा प्रयोज्या पात्राभ्यां क्वचिदेकेन वा भवेत्। भावप्रकाशनम्, ८/१९२

६ वीथ्यमेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते। साहित्यदर्पण, २५३

७ त्वेकाङ्काद्व्येकपात्रिका। नाट्यदर्पण, २८/९३

८ नाटकलक्षणरत्नकोश - पृष्ठ २७७

९ अधमोत्तममध्यभिर्युक्ता स्यात् प्रकृतिभिस्तिसृभिः। नाट्यशास्त्र, २०/११४

१० .... कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते। साहित्यदर्पण, २५३

मध्यम और अधम में से किसी एक की कल्पना की है। *दशरूपककार*[१] और *नाट्यदर्पणकार*[२] ने तीनों प्रकार के नायकों को स्वीकार किया है। *नाट्यशास्त्र*[३] में सभी रस और लक्षणों से युक्त वीथ्यङ्गों की बात कही गयी है। *दशरूपक*[४] में शृङ्गार रस की सूचना तथा अन्य रसों के स्पर्श का निर्देश दिया गया है। *शारदातनय*[५] ने इसी का समर्थन किया है। *साहित्यदर्पण*[६] में शृङ्गार की प्रधानता के साथ अन्य रसों के अस्तित्व को तथा कैशिकी वृत्ति के प्राचुर्य को स्वीकार किया गया है। *दशरूपक*[७] में कैशिकी वृत्ति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुये कहा कि वीथी कैशिकी वृत्ति में होती है। *भावप्रकाशन*[८] में भी इसी का समर्थन किया। *भावप्रकाशन*[९] में मुख निर्वहण सन्धि को वीथी में बताया। इसका समर्थन आचार्य *विश्वनाथ*[१०], *दशरूपककार*[११] तथा *नाटकलक्षणरत्नकोशकार*[१२] ने भी किया।

---

१ क दशरूपकम् - ६/२५३

ख **कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा** । दशरूपकम्, पृष्ठ - ५२९

२ **सर्वस्वामि वीथी** .... । नाट्यदर्पण, २/९३

३ **नाट्यशास्त्र** - २०/१४४

४ **रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशदपि रसान्तरम्** । दशरूपकम् १/६८

५ **अङ्गी सर्वरसस्पर्शी शृङ्गारोऽस्याः प्रधानतः** । भावप्रकाशनम् - ८/१९२

६ **सूच्येभ्दूरिशृङ्गारं किंचिदन्यान् रसान्प्रति** । साहित्यदर्पण, २५४, पृष्ठ - ५२१

७ **वीथी तु कैशिकी** । दशरूपक, ३/६८

८ **वृत्तिस्तु कैशिकी** । भावप्रकाशनम् ८/१९२

९ **मुखनिर्वहणे सन्धि** .... । भावप्रकाशनम् ८/१९२

१० **साहित्यदर्पण** - ६/२५४

११ **दशरूपकम्** - ३/६८

१२ **मुखनिर्वहणयुता** । नाटकलक्षणरत्नकोश - सागरनन्दी, पृष्ठ-२७७

प्रहसन

नाट्यशास्त्रकार[१] भरत ने दो प्रकार के प्रहसन माने हैं — शुद्ध, सङ्कीर्ण। *दशरूपककार*[२] तीन प्रकार के प्रहसन माने। *भावप्रकाशनकार*[३] ने भी विविध प्रहसन का स्वरूप बताया है। *साहित्यदर्पणकार*[४] ने शुद्ध और सङ्कीर्ण दो प्रकार के प्रहसन बताये। *नाट्यदर्पणकार*[५] ने शुद्ध तथा सङ्कीर्ण दो प्रकार बताये।

नाटकलक्षणरत्नकोश[६] में दो प्रकार के प्रहसन शुद्ध, सङ्कीर्ण बताये।

नाट्यशास्त्र में शुद्ध प्रहसन में शैव गुरु (भगवत्-तापस) और ब्राह्मणों के परिहासपूर्ण सम्वाद होते हैं।[७]

साहित्यदर्पण[८] में शुद्ध प्रहसन वह है, जिसमें तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मण श्रेणी के व्यक्तियों में से किसी एक श्रेणी के व्यक्ति को धृष्टनायक के रूप में चित्रित किया जाता है। *दशरूपककार*[९] ने भी इसी ओर सङ्केत किया है।

शुद्ध प्रहसन के सन्दर्भ में *नाट्यशास्त्रकार* और *साहित्यदर्पणकार* का समर्थन

---

१ प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च सङ्कीर्णम् । नाट्यशास्त्र, २०/१०३

२ प्रहसनं त्रेधा शुद्दपैकृतमङ्करैः ।- दशरूपकम्, ३/५४

३ भाणवत् स्यात् प्रहसनं तत्त्रिधा परिभिद्यते।
शुद्ध क्वाप्यथ सङ्कीर्ण क्वचिद् वैकृतमित्यापि॥ - भावप्रकाशनम्, अष्टम अधिकार - १७९

४ षष्ठ परिच्छेद ।- साहित्यदर्पण, पृष्ठ ५३०

५ वैमुख्यकार्य प्रहसनं द्विधा। - नाट्यदर्पण, द्वितीय विवेक - ८३

६ द्विविध शुद्धं सङ्कीर्णश्च। - नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ - २७६

७. भगवत्तापसविप्रैन्येरपि हास्यवादसम्बद्धम् ।-- नाट्यशास्त्र

८ तपस्वि भगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः - साहित्यदर्पण, ६/२६६

९ दशरूपकम् - ३/५४

नाटकलक्षणरत्नकोश में सागरनन्दी[१] ने भी किया है। मिश्र प्रहसन में *नाट्यशास्त्रकार*[२] ने वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त तथा रक्षितास्त्री की अपने असभ्य तथा चेष्टाओं सहित स्थिति बतायी है। *साहित्यदर्पणकार*[३] के अनुसार सङ्कीर्ण प्रहसन में अधम प्रकृति के व्यक्ति का नायक रूप में चित्रण किया जाता है। *दशरूपक*[४] के अनुसार विकृत प्रहसन में नपुंसक, कंचुकी या तपस्वी निबद्ध होते हैं। सङ्कीर्ण प्रहसन में धूर्त व्यक्तियों का निवेश बताया गया है। *भावप्रकाशनकार*[५] ने भी सङ्कीर्ण और विकृत प्रहसन में पात्रों के योजना के सन्दर्भ में आचार्य धनञ्जय का समर्थन किया। *नाट्यदर्पण*[६] के अनुसार शुद्ध प्रहसन पाखण्डी आदि के ही चरित्र से युक्त होता है, तथा सङ्कीर्ण में स्वैरिणी आदि का चरित्र होता है।

साहित्यदर्पण[७] में प्रहसन का अङ्गीरस हास्य कहा गया है। *दशरूपककार*[८], *नाट्यदर्पणकार*[९], तथा *सागरनन्दी*[१०] ने भी प्रहसन की हास्य की प्रधानता को स्वीकार

---

१ नाटकलक्षणरत्नकोश -- पृष्ठ २७६

२ **वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः। अनिभृत वेषपरिच्छेदचेष्टित करणैस्तु सङ्कीर्णम् ।** नाट्यशास्त्र, ०६

३. **साहित्यदर्पण** -- ६/२६६

४ **दशरूपकम्** - ३/५४,५५

५ **भावप्रकाशनम्** - ८/१७९

६.क **निन्द्य पाखण्ड .... चेष्टितम्** । ८४

ख **सङ्कीर्णमुद्धताकल्प .... विचेष्टितम्** । ८५, नाट्यदर्पण

७ **अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा** ।-साहित्यदर्पण, ६/२६५

८ **दशरूपकम्** - ३/५५

९ **हास्याङ्गि भाणसन्ध्यङ्क वृत्ति प्रहसनं द्विधा।** नाट्यदर्पण ८३

१०. **नाटकलक्षणरत्नकोश** - पृष्ठ २७६

किया है। प्रहसन में मुख तथा निर्वहण सन्धि का निर्देश *भावप्रकाशनकार*[१], *नाटकलक्षणरत्नकोशकार*[२], *दशरूपककार*[३], तथा *साहित्यदर्पणकार*[४] ने किया है।

व्यायोग

व्यायोग जिसमें अनेक पुरुष प्रयुक्त हों, *"व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बह्वः पुरुषा इति व्यायोगः।"* इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्यायोग शब्द निष्पन्न हुआ है। भरतमुनि के अनुसार व्यायोग की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है।[५] कथावस्तु के प्रख्यात होने के विषय में भरतमुनि के मत से प्रायः समस्त *आचार्य धनञ्जय*[६], *सागरनन्दी*[७], *शारदातनय*[८], *नाट्यदर्पणकार*[९], *शिंगभूपाल*[१०] तथा *आचार्य विश्वनाथ*[११] सहमत हैं।

व्यायोग के नायकत्व के विषय में अत्यन्त मतवैभिन्य है। *आचार्य भरत*[१२] ने इसमें दिव्य नायक का निषेध कर राजर्षि का विधान किया है, किन्तु *नाट्यदर्पणकार*[१३]

---

१ मुखनिर्वहणश्चैव सन्धी द्वावस्थकीर्तितौ । भावप्रकाशनम्, ८/१८०

२ नाटकलक्षणरत्नकोश - पृष्ठ २७६

३ दशरूपकम् - ३/५४

४ साहित्यदर्पण - ६/२६४

५ व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कर्त्तव्यः ख्यातनायकशरीरः। नाट्यशास्त्र, २०/९१

६ ख्यातेतिवृत्तो व्यायोग : ख्यातोद्धतनराश्रयः। दशरूपकम्, ३/६०

७ नियुद्धयुद्ध बहुलः दीप्तवीररौद्ररसोविदिति कथा। नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ २६५

८ व्यायोगस्येतिवृत्तं यत्तत्प्रख्यातामितीरितम् । भावप्रकाशनम् ८/१८३

९ नाट्यदर्पण - सूत्र १२५

१० ख्यातेतिवृत्तसम्पन्नौ निस्सहाय नायक. । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ-१७१

११ ख्यातोतिवृत्तौ व्यायोगः। साहित्यदर्पण, ६/२३१

१२ न च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षि नायकनिबद्धः। नाट्यशास्त्र, २०/९३

१३ अदिव्यभूपतिस्वामी व्यायोगोनायिकां बिना। नाट्यदर्पण, सूत्र - ७५

इसमें अदिव्य नायक का विधान करते हैं। *आचार्य विश्वनाथ*[१] ने राजर्षि के साथ-साथ दिव्य पुरुष को भी इसका नायक स्वीकार किया है। *शारदातनय*[२] के मतानुसार इसका नायक देवता या राजर्षि होता है, किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार देवता, ऋषि या नृपति व्यायोग के नायक नहीं होने चाहिये, परन्तु व्यायोग का नायक और कथावस्तु दोनो प्रसिद्ध होने चाहिये। अभिवनगुप्त[३] का यह मत उचित प्रतीत होता है, क्योंकि देवता या ऋषि का चरित्र उदात्त कोटि का होगा, जो व्यायोग में उद्धत कोटि के अनुकूल नही होगा। आचार्य भरत नायक के प्रख्यात होने का उल्लेख तो करते हैं, परन्तु नायक के प्रकार के विषय में वे मौन हैं। *काव्यानुशासनकार*[४] भी नायक के प्रख्यात होने का उल्लेख करते हैं। *आचार्य धनञ्जय*[५], *नाट्यदर्पणकार*[६] तथा *आचार्य विश्वनाथ*[७] नायक की धीरोदात्तता को लुप्त अर्थ में छोड़ा है। *शारदातनय*[८] व्यायोग के नायक को धीरोदात्त स्वीकार करते हैं। *आचार्य भरत, आचार्य विश्वनाथ, रामचन्द्र गुणचन्द्र* आदि आचार्यो ने व्यायोग के नायक की संख्या निर्धारित नहीं की है, जबकि *शारदातनय*[९] व *शिङ्गभूपाल*[१०] ने व्यायोग के नायकों की संख्या दस-दस स्वीकार की है।

---

१ साहित्यदर्पण - ६/२३३

२ धीरोदात्ताश्च विख्याता देवा राजर्षयोऽथवा । भावप्रकाशनम् ८/१८३

३ नाट्यशास्त्र - २०/९६ पर अभिनवभारती

४ व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्य : प्रख्यातनायक शरीरः। काव्यानुशासनम् ८/३, पृष्ठ-४४१

५ ख्यातेतिवृत्तोव्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः । दशरूपकम्, ३/६०

६ अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो नियुद्धस्पृर्धनोद्धतः। नाट्यदर्पण, ७४

७ साहित्यदर्पण - ६/२३३

८ भावप्रकाशनम् - ८/१८३

९ नायकास्त्रिचतुष्पंच भवेयुर्न दशाधिकाः। भावप्रकाशनम्, ८/१८३

१० युक्तो दशावैरः ख्यातैरुद्धेतेः प्रतिनायकै.। रसार्णवसुधाकर पृष्ठ १७१

आचार्य विश्वनाथ[१] के मतानुसार व्यायोग में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग निषिद्ध है। कैशिकी वृत्ति के गुण शृङ्गार एवं हास्य से रहित होने के कारण ही स्त्रियों को इसमें कम स्थान दिया गया। समस्त *आचार्यो धनञ्जय*[२], *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[३], *शारदातनय*[४], *शिङ्गभूपाल*[५], तथा *आचार्य विश्वनाथ*[६] ने प्रतिपादित किया है कि इसमें युद्ध स्त्री के कारण नहीं होता। फलस्वरूप *नाट्यदर्पणकार*[७] ने व्यायोग में नायिका के अभाव की बात कही है। *आचार्य भरत*[८] के अनुसार स्त्री पात्रों की संख्या अल्प होनी चाहिये। भरत के इस मत से *धनञ्जय*[९], *नाट्यदर्पणकार*[१०], *शारदातनय*[११] तथा *आचार्य विश्वनाथ*[१२] समस्त आचार्य सहमत हैं।

व्यायोग में रसों के विषय में भरत[१३] ने कहा कि व्यायोग में दीप्त रसों का प्रयोग होना चाहिये। *धनञ्जय*[१४] का भी कथन है कि व्यायोग में डिम की भांति छः दीप्त रस

---

१ कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः । साहित्यदर्पण, ६/२३२

२ अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो जामदग्न्यजये यथा। दशरूपकम् ३/६१

३ अस्त्रीनिमितसङ्ग्रामो नियुद्ध स्पर्धनोद्धतः। नाट्यदर्पण, सूत्र ७४

४ अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो व्यायोगः कथितोबुधैः। भावप्रकाशनम् ८/१८३

५ अस्त्रीनिमित्तसमरो व्यायोगः कथितोबुधै :। रसार्णवसुधाकर पृष्ठ - १७१

६ भेषेदस्त्री निमित्तसमरोदयः । साहित्यदर्पण, ६/२३२

७ व्यायोग नायिकां विना । नाट्यदर्पण सूत्र, १२५

८ अल्पस्त्री जनयुक्तस्त्वेकाह कृतस्तथा चैव । नाट्यशास्त्र, २०/९१

९ एकाहाचरितैकाङ्गो व्यायोगो बहुभिर्नरैः । दशरूपकम् ३/६२

१० स्वल्पयोज्जिनः .... विना । नाट्यदर्पण, सूत्र - ७५

११ दिव्ययोनिकथाल्पस्त्रीपरिवारस्त्रिसन्धिकः । भावप्रकाशनम्, ८/१८३

१२ स्वल्पस्त्रीजन सङ्युक्तः । साहित्यदर्पण, ६/२३१

१३ एवं विधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरसयोनिः । नाट्यशास्त्र, २०/९४

१४ हीनो .... दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः। दशरूपकम् - ३/६१

होते हैं। काव्य *नाट्यदर्पणकार*[१], *शारदतनय*[२], व *आचार्य विश्वनाथ*[३] ने भी व्यायोग में छः दीप्त रसों की स्थिति स्वीकार की है, एवं आचार्य विश्वनाथ ने व्यायोग में स्पष्ट शब्दों में हास्य, शृङ्गार व शान्त रसों को निषेध किया, किन्तु *सागरनन्दी*[४] तथा *शारदातनय*[५] इसमें स्वल्प शृङ्गार की स्थिति भी स्वीकार करते हैं।

व्यायोग में सन्धि के विषय में भरत मौन हैं, परन्तु परवर्ती आचार्यो ने संधियों का भी उल्लेख किया है। *धनञ्जय*[६], *नाट्यदर्पणकार*[७], *व शारदातनय*[८] इस विषय में एक मत है कि व्यायोग में गर्भ व विमर्श सन्धि नहीं होनी चाहिए। *सागरनन्दी*[९] के मतानुसार व्यायोग में गर्भ, विमर्श व प्रतिमुख सन्धि नहीं होनी चाहिए, अर्थात् मुख व निर्वहण सन्धियों की योजना होनी चाहिए।

आचार्य भरत[१०], *धनञ्जय*,[११] *नाट्यदर्पणकार*[१२], *सागरनन्दी*[१३], *शारदातनय*[१४],

---

१ स्वल्पयोषिज्जनः ख्यातवस्तुदीप्तरसाश्रय । नाट्यदर्पण, सूत्र – ७५

२ क्वाचित्क .... षड् दीप्तरसनिर्भरः । भावप्रकाशनम्, ८/१८३

३ हास्यशृङ्गारशान्तेऽभ्यन्तरेऽत्रङ्गिनो रसा. । साहित्यदर्पण, ६/२३३

४ नातिकरुणशृङ्गारो व्यायोगः कथयते सद्भिः । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ – २६५

५ क्वाचित्कः स्वल्पशृङ्गारः षड्दीप्तरसनिर्भरः । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ – २६५

६ हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः । दशरूपकम् , ३/६१

७ गर्भविमर्शविवर्जितदीप्त रसाश्रयः । नाट्यदर्पण, सूत्र १२५

८ गर्भविमर्शरहितो विष्कम्भकादि समन्वितः । भावप्रकाशनम् , ८/१८३

९ मुखनिर्वहणं सन्धियुक्तो । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ – २६५

१० न च तत्प्रमाणस्तु तदेकाङ्क संविधातव्यः । नाट्यशास्त्र, २०/९१

११ दशरूपकम् – ३/६२

१२ एकाहचरितैकाङ्को .... कनयुद्धस्पर्धनवृतः । नाट्यदर्पण, सूत्र १२५

१३ प्रख्यात नायक .... वा एङ्काकः। नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ – २९५

१४ एकाहचरितैकाङ्को .... समन्वितः। भावप्रकाशनम्, ८/१८३

आचार्य विश्वनाथ[१], *आचार्य हेमचन्द्र*[२] सभी के मत में व्यायोग में अङ्क एक ही होता है। व्यायोग के उदाहरण इस प्रकार हैं दशरूपक तथा नाट्यदर्पण में जामदग्न्य तथा साहित्यदर्पण में सौगन्धिकाहरण को उद्धृत किया गया है।

उत्सृष्टिकाङ्क

आचार्य भरत[३] के मतानुसार उत्सृष्टिकाङ्क की कथावस्तु कभी प्रख्यात होती है, कभी अप्रख्यात। कथावस्तु के विषय में *सागरनन्दी*[४] भरत से सहमत हैं। *आचार्य धनञ्जय*[५], *आचार्य विश्वनाथ*[६] तथा *शिङ्गभूपाल*[७], *शारदातनय*[८] के मतानुसार इसकी कथावस्तु कभी प्रख्यात तथा कभी कवि कल्पना-जन्य होती है। *नाट्यदर्पणकार*[९] अङ्क में प्रसिद्ध युद्ध से जन्य कथावस्तु मानते हैं।

आचार्य भरत[१०] तथा उनके परवर्ती समस्त आचार्यों ने उत्सृष्टिकाङ्क में दिव्य

---

१ एकाङ्कश्च .... प्रख्यातस्तत्र नायकः। साहित्यदर्पण ६/२३२

२ न तु तत्प्रमाणयुक्तः कार्यस्त्वेकाङ्कएवायम्। अध्याय-८, सूत्र-३, काव्यानुशासनम्

३ प्रख्यातवस्तु विषयस्त्वप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात्। नाट्यशास्त्र - २०/९५

४ प्रख्यातवस्तुविषयः अप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात्। नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ - २६६

५ उत्सृष्टिकाङ्क प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्। दशरूपकम्, ३/७०

६ प्रख्यातमितिवृत्त च कविबुद्धिर्या प्रपञ्चयेत्। साहित्यदर्पण, ६/२५

७ ख्यातेन वा कल्पितेन। - रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ - १७०

८ उत्सृष्टिकाङ्क प्रख्यातमिति वृत्तं क्वचिद्भवेत्। भावप्रकाशनम्, ८/१९३

९ उत्सृष्टिकाङ्कः पुंस्वामी ख्यातयुद्धोत्थवृत्तवान्। नाट्यदर्पण, ८८ सूत्र

१० क दिव्यपुरुषैर्वियुक्तः शेषैरन्यैभवेत्पुंभि। नाट्यशास्त्र, २०/९८

ख रसस्तु ... . नेतारः प्राकृता नराः। दशरूपकम, ३/७१

ग दिव्यपुरुषैर्वियुक्त· शेषैरन्यैर्भवेत्पुंभिः। नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ - २६६

घ. उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः। साहित्यदर्पण, ६/२५०

ङ दिव्यैरयुक्त. पुरुषैशेषैरन्ये समन्वित :। भावप्रकाशनम्, - ८/१९३

च दिव्यपुरुषैवियुक्तः .... अधिकार। नाट्यदर्पण, सूत्र-३, पृष्ठ-४४

पात्रों का निषेध किया है।

नाट्यदर्पणकार[1] के मतानुसार दिव्यपात्रों में सुख बाहुल्य रहता है, अतः करुण रस प्रधान उत्सृष्टिकाङ्क में उनकी योजना सङ्गत नहीं है। इस प्रकार समस्त आचार्यो ने अङ्क में साधारण पुरुष नायक का विधान किया है।

अङ्क में वृत्तियों के प्रयोग के सम्बध में आचार्यो में मतभेद है। *भरतमुनि*[2], *आचार्य धनञ्जय*[3], *सागरनन्दी*[4], *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[5] तथा *आचार्य विश्वनाथ*[6] ने इसमें भारती वृत्ति का प्रयोग स्वीकार किया है, किन्तु *शारदातनय*[7] के मतानुसार इसमें कैशिकी के अतिरिक्त सात्वती तथा आरभटी वृत्तियां भी प्राप्त होती हैं। *आचार्य हेमचन्द्र*[8] ने उत्सृष्टिकाङ्क को सात्वती, आरभटी, कैशिकी वृत्तियों से हीन माना है।

भरत तथा उनके अनुगामी नाट्यालोचकों[9] के मतानुसार अङ्क करुण रस प्रधान

---

१ दिव्यानां च सुखबाहुल्येन तत्सम्बन्धयोगात्। नाट्यदर्पण, पृष्ठ - २३७

२ नाना व्याकुलचेष्टः सात्वत्यारभटी कैशिहीनः। नाट्यशास्त्र, २०/९७

३ भाणवत्सन्धिवृत्यङ्गैर्युक्तिः स्त्रीपरिदेवितैः। - दशरूपकम् ३/७१

४ नाटकलक्षणरत्नकोश -- पृष्ठ - २६६

५ भाणोक्त वृत्ति सन्ध्यङ्गो वाग्युद्धः करुणाङ्गिकः - नाट्यदर्पण सूत्र - ८८

६ भाणवत्सन्धिवृत्तयाङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ। साहित्यदर्पण ६/२५२

७ कैशिकीवृत्तिहीनश्च सात्तवत्यारभटीयुतः। भावप्रकाशनम् ८ / १९३

८ .... सात्त्वत्यारभटी कैशिकीहीनः। अध्याय ८, सूत्र ३, काव्यानुशासन

९ क करुण रस प्रायकृतो निवृत्तयुद्धोद्धंत प्रहारश्च। नाट्यशास्त्र, २०/९६

ख रसस्तु करुणः स्थायी .... नराः। दशरूपकम्, ३/७१

ग करुण रस प्रायः .... इति। नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ-२६६

घ ख्यातेन वा ....करुणाश्रय। रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ -१७०

ङ भाणोक्त .... करुणाङ्गिक्क। नाट्यदर्पण, सूत्र - १३६

च रसोऽत्र करुणाः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम्। साहित्यदर्पण, २१७

छ करुणरसप्रायकृतो ....। अधिकार ८,६/२१७, सूत्र-३, पृष्ठ-४४, काव्यानुशासनम्

रूपक हैं।

करुण स्थायी होने के कारण इसमें स्त्रियों का विलाप रहता है। वाक्कलह व निर्वेद के कथन बहुत होते हैं, तथा युद्धगत चेष्टायें एवं युद्ध प्रदर्शित नहीं किया जाता है।[१]

आचार्य धनञ्जय[२] तथा *विश्वनाथ*[३] के मत में इसमें जय-पराजय वर्णन होना चाहिये। अङ्क में प्रायः समस्त आचार्यों[४] के मत में मुख तथा निर्वहण सन्धि की योजना होना चाहिए।

शारदातनय द्वारा उल्लिखित कोहलाचार्य[५] भी इसी विषय में सहमत हैं, किन्तु *शारदातनय*[६] ने भावप्रकाशनम् में लिखा है कि कोई कहते हैं कि इसमें ईहामृग के

---

१ क करुण रस .... निवृत्तयुद्धोद्धत प्रहारश्च।
स्त्रीपरिदेविन बहुलो निर्वेदभाषितश्चैव ॥ नाट्यशास्त्र, २०/९६

ख भाणवत्सन्धि .... स्त्रीपरिदेवितैः।
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ॥ दशरूपकम्, ३/७१-७२

ग नाट्यशास्त्र - सूत्र ८९

घ. नाटकलक्षणरत्नकोश - पृष्ठ २६६

ङ भावप्रकाशनम् - ८/१९३

च रसोऽत्र करुणः .... बहुस्त्रीपरिदेवितम्।
शुद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ साहित्यदर्पण, ६/२५२

२ वाचा .... तथा जयपराजयौ । दशरूपकम, ३/७२

३ भाण .... जयपराजयौ । साहित्यदर्पण, ६/२५२

४ क भाणवत्सन्धि .... पराजयौ । दशरूपकम् ३/७२

ख भाणोक्तसन्धि वृत्तिसन्ध्यङ्को वाग्युद्धः .... करुणाङ्गिक । नाट्यदर्पण, ८८

ग साहित्यदर्पण - ६/२५२

घ मुखनिर्वाहमान् वा .... इच्छया । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ १७०

५ मुखनिर्वहणे सन्धी इति कोहल भाषितम् । भावप्रकाशनम्, ८/१९४

६. ईहामृगवदित्यन्ये केऽप्याहुर्डिमसन्धिभिः । भावप्रकाशनम्, ८/१९४

समान मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धि होती है, तथा किसी का कथन है कि इसमे डिम के समान विमर्श के अलावा चार सन्धियां होती है।

आचार्य भरत[१], *धनञ्जय*[२], *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[३] तथा *आचार्य विश्वनाथ*[४] के मतानुसार इसमें एक ही अङ्क होता है, किन्तु शारदातनय द्वारा उल्लिखित कोहल, व्यास तथा आञ्जनेय के मतानुसार इसमें क्रमशः दो और तीन अङ्क होते हैं।[५] *शिङ्गभूपाल*[६] के मत में इसमें इच्छानुसार एक दो या तीन अङ्क होते हैं।

ईहामृग

ईहामृग वह है, जिसमें नायक मृग के समान किसी अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की चेष्टा (ईहा) करता है, वह ईहामृग कहलाता है- *'मृगवदलभ्यां नायिका नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः।'*

आचार्य धनञ्जय[७], *आचार्य विश्वनाथ*[८], *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[९] तथा *शारदातनय*[१०] के मतानुसार ईहामृग में कथावस्तु मिश्रित (प्रख्यात व कल्पित) होती है। ईहामृग में

---

१ नाट्यशास्त्र, २०/१००

२ दशरूपकम् - ३/७

३ नाट्यदर्पण - सूत्र ८८

४ उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः । साहित्यदर्पण, ६/२५०

५ अस्याङ्कमेकं भरतो छावङ्काविति कोहलः ।
व्यासांजनेयगुरुवः प्राहुरङ्कत्रयं सदा । भावप्रकाशनम्, ८/१९३

६ ... . स्यादेकद्वित्र्यङ्क इच्छया । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ - १७०

७ मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कत्रिसन्धिमत् । दशरूपकम् - ३/७२

८ साहित्यदर्पण - ६/२४५

९ एकाङ्कश्चतुरङ्को वा ख्याताख्यातेतिवृत्तवान् । नाट्यदर्पण, सूत्र ९०

१० ईहामृगस्येतिवृत्तं प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रितम् । भावप्रकाशनम्, ८/१९९

किसी दिव्य नायिका की प्राप्ति की इच्छा से नायक युद्ध में प्रवृत्त होता है।

इसमें *आचार्य भरत*[क] , *आचार्य धनञ्जय*[ख] , *आचार्य विश्वनाथ*[ग] , *आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द*[घ] *तथा शारदातनय*[ङ] सहमत हैं।

आचार्य विश्वनाथ[१] के मतानुसार ईहामृग में नायकों की संख्या दस तथा *नाट्यदर्पणकार*[२] के मत से बारह होती है। *शारतातनय*[३] के अनुसार इसमें समूह रूप मे छः चार और पाँच नायक और प्रतिनायक होते हैं।

शारदातनय[४] *तथा आचार्य विश्वनाथ*[५] के मत में ईहामृग में चार अङ्क होते हैं किन्तु *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[६] के मत में यह एक अथवा चार अङ्कों वाला होता है। *काव्यानुशासनकार* से एक अङ्क माना है।[७]

आचार्य भरत[८] ने ईहामृग को दिव्यपुरुषाश्रित कहा है। आचार्य धनञ्जय[९] तथा

क नाट्यशास्त्र - २०/८४

ख दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः । दशरूपकम्, ३/७४

ग साहित्यदर्पण - ६/२४७

घ दिव्यस्त्रीहेतु ....द्वादशनायकः । नाट्यदर्पण, सूत्र ९१

ङ बलाद्दिव्याङ्नाहेतु प्रवृत्तोद्दामसङ्गरः । भावप्रकाशनम् ८/१९९

१ पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोदूताः। साहित्यदर्पण, सूत्र २१७

२ ईहामृगः सर्वीथ्यङ्गो .... द्वादश नायकः । नाट्यदर्पण, सूत्र १३८

३ गणशः षट्चतुः पञ्चनायकाः प्रतिनायकाः । भावप्रकाशनम् - ८१९९

४ अङ्काश्चत्वार एवात्रसविषकम्भकप्रवेशकाः । भावप्रकाशनम् , ८/१९९

५ ईहामृगे मिश्रवृत्रचतुरङ्गप्रकीर्तितः । साहित्यदर्पण, ६/२४५

६ एकाङ्गश्चतुरङ्को वा ख्याताख्यातेतिवृत्तवान् । नाट्यदर्पण, सूत्र १३८

७ काव्यानुशासनम् -आचार्य हेमचन्द्र अ-८, सूत्र - ३, पृष्ठ १२७

८ दिव्य पुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः । नाट्यशास्त्र, २०/७९

९ दशरूपकम् ३/७३

आचार्य विश्वनाथ[१] के मतानुसार ईहामृग में नट तथा देवता के नियम से नायक व प्रतिनायक की योजना होती है। *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[२] के मतानुसार ईहामृग दिव्य नायक तथा दृप्त मानव पात्रों से युक्त होता है। *शारदातनय*[३] के मत में इसके नायक इतिहास प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते हैं।

आचार्य भरत, धनञ्जय, आचार्य विश्वनाथ, रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा *शारदातनय समस्त आचार्यों*[४] के मतानुसार ईहामृग के नायक की प्रकृति धीरोदात्त होती है। ईहामृग में किसी दिव्य नायिका की प्राप्ति की इच्छा से नायक युद्ध में प्रवृत्त होता है, तथा उसका अपहरण करना चाहता है।

डिम

डिम की कथावस्तु प्रख्यात होती है। इस विषय में *आचार्य भरत*[५] से समस्त परवर्ती *आचार्य धनञ्जय*[६], *आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र*[७], *सागरनन्दी*[८], *शारदातनय*[९],

---

१ नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायेको । साहित्यदर्पण, ६/२४६

२ ईहामृगः सवीथ्यङ्गो दिव्येशो दृप्तमानवः । नाट्यशास्त्र, सूत्र ९०

३ प्रख्यातो दिव्यो मर्त्योऽथ नायकः । भावप्रकाशनम् ८/१९९

४ क उद्धतपुरुष प्राय. स्त्रीरोष .... । नाट्यशास्त्र, २०/७३

ख दशरूपकम्, २०/७३

ग. साहित्यदर्पण – ६/२४६

घ नाट्यशास्त्र – सूत्र ९०

ङ धीरोद्धतश्च प्रख्यातो दिव्यो मर्त्योऽथ नायकः । भावप्रकाशनम्, ८/१९९

५ प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकोपेतः । नाट्यशास्त्र, २०/८५

६ डिमे वस्तुप्रसिद्धं .... महोरगाः । दशरूपकम्, ३/५७

७ अशान्तहास्य .... ख्यातवस्तुकः । नाट्यदर्पण सूत्र – ८६

८ विख्यातवस्तुविषय. । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ २६६

९ प्रख्यातवस्तुविषयो न्यायमार्गीगणनायकः । भावप्रकाशनम् ८/१८२

आचार्य विश्वनाथ[१] *तथा शिङ्गभूपाल*[२] सहमत हैं।

. *आचार्य भरत*[३] के मतानुसार डिम का नायक भी प्रख्यात तथा उदात्त होना चाहिये। नायक के प्रख्यात होने के विषय में परवर्ती समस्त आचार्य भरत से सहमत हैं। परन्तु *आचार्य धनञ्जय*[१क] , *नाट्यदर्पणकार*[ख] , *आचार्य विश्वनाथ*[ग] तथा *शारदातनय*[घ] के अनुसार इसके नायक उद्धत होते हैं।

इसमें नायकों की संख्या सोलह आचार्य भरतमुनि, आचार्य विश्वनाथ, नाट्यदर्पणकार, शारदातनय तथा सागरनन्दी को स्वीकृत है। ये सोलह पात्र देवता, गन्धर्व, यज्ञ, राक्षस, नाग, भूत प्रेत, पिशाचादि होते हैं।

आचार्य भरत[४] के मत का अनुसरण करते हुये समस्त परवर्ती *आचार्यों*

---

१ मायेन्द्रजाल .... ख्यातोतिवृत्तकः । साहित्यदर्पण, ६/२४३

२ ख्यातेतिवृत्तं .... स्फुटम् । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ - १७८

३ प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव । नाट्यशास्त्र, २०/८८

१क नेतारोः .... षोडशात्यन्तमुद्धताः । दशरूपकम्, ३/५७-५८

ख नाट्यदर्पण .... पृष्ठ २३६

ग षोडशात्यन्तमुद्धता । साहित्यदर्पण, ६/२४३

घ. उद्धतै .... षोडशनायकः । भावप्रकाशनम् ८/१८२

४ देवासुरराक्षसभूतयज्ञनागाश्च पुरुषाः स्युः।

क षोडशनायकबहुल .... संयुक्तः। नाट्यशास्त्र, २०/८९

ख नेतारो देवगन्धर्व .... षोडशात्यन्तमुद्धताः। दशरूपकम् ३/५७-५८

ग .. .. भूतप्रेतपिशाचाद्या. । साहित्यदर्पण, ६/२४३

घ सुरासुरपशिाचाद्याः प्रायः षोडश नायकाः । नाट्यशास्त्र, सूत्र ८७

ङ उद्धतर्देवगन्धर्व .... षोडश नायकः । भावप्रकाशनम्, ८/१८२

च. स च षोडशनायका युक्त :।

.... पिशाचसुरासर .... सङ्कुल । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ २६६

धनञ्जय,[१] *नाट्यदर्पणकार*[२], *आचार्य विश्वनाथ*[३], *शारदातनय*[४] तथा *शिङ्गभूपाल*[५] ने डिम में चार अङ्कों का विधान माना है।

भरत[६], *आचार्य धनञ्जय*[७], *शारदातनय*[८], *आचार्य विश्वनाथ*[९] *व शिङ्गभूपाल*[१०] के मतानुसार डिम में कैशिकी वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्तियां प्राप्त होती हैं। भरत[११] के मतानुसार डिम में हास्य व शृङ्गार को छोड़कर छः दीप्त रसों का प्रयोग *धनञ्जय*[१२], *रामचन्द्र गुणचन्द्र,*[१३] *आचार्य विश्वनाथ*[१४] तथा *शारदातनय*[१५] भी करते हैं।

डिम में रौद्र रस अङ्गी रस के रूप में रहता है। यह मत *धनञ्जय*[१६], *रामचन्द्र*

---

१ क षड्लक्षणयुक्तश्चतुर्ङ्को वै डिमः कार्य : । नाट्यशास्त्र, २०/८५

ख. चतुरङ्कश्चचतुसन्धि ... . स्मृतः । दशरूपकम, ३/६०

२ रौद्रमुख्यश्चतुरङ्कः .... डिमः । नाट्यदर्पण, सूत्र ८६

३ चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ । साहित्यदर्पण ६/२४३

४ सप्रवेशकविष्कम्भकश्चतुरङ्को डिमः स्मृतः । भावप्रकाशनम् ८/१८२

५ चतुर्भिरङ्कैर्वरचितं .... सन्धिभि :। रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ – १७८

६ षोडश ....सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसंयुक्तः ।– नाट्यशास्त्र, २०/८९

७ डिमे .... कैशिकी बिना । दशरूपकम् , ३/५७

८ कैशिकी वृत्ति रहितो भारत्यारभटीयुतः । भावप्रकाशनम् ८/१८२

९ वृत्तयः कैशिकीहीना .... । साहित्यदर्पण, ६/२४४

१० कैशिकीवृत्ति विरलं भारत्यारभटी स्फुटम् । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ १७८

११ षड्लक्षण .... कार्य :। नाट्यशास्त्र, २०/८८

१२ रसैरहास्यशृङ्गारै षड्भिदीप्तैः समन्वितः। दशरूपकम्, ३/५८

१३ अशान्त हास्यशृङ्गार .... डिमः । नाट्यशास्त्र, सूत्र – ८६

१४ दीप्ताः स्युः षड्साः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिता । साहित्यदर्पण, ६/२४४

१५ शृङ्गारहास्य विधुरे रसैदीप्तेनिरन्तरः । भावप्रकाशनम् ८/१८२

१६ चन्द्र .... रौद्ररसेऽङ्गिनि। दशरूपकम् ३/५१

गुणचन्द्र[1], *शारदातनय*[2], *शिङ्गभूपाल*[3] तथा *आचार्य विश्वनाथ*[4] ने दिया है।

धनञ्जय[5], *रामचन्द्र गुणचन्द्र*[6], *शारदातनय*[7], *शिङ्गभूपाल*[8] तथा *विश्वनाथ*[9] ने डिम में विमर्श सन्धि स्वीकार किया है।

भरतमुनि[10] तथा उनके परवर्ती समस्त आचार्यो[11] के मत में डिम में माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध आदि चेष्टाओं तथा चन्द्रग्रहण व सूर्यग्रहण का वर्णन रहता है।

शारदातनय[12] तथा शिङ्गभूपाल[13] ने इसमें प्रवेशक तथा विष्कम्भक की योजना स्वीकार की है। डिम का उदाहरण नाट्यशास्त्र, दशरूपक व साहित्यदर्पण में

---

१ **रौद्रमुख्यश्च .... डिमः** । नाट्यदर्पण, सूत्र – ८६

२. **अङ्गिरौद्ररसोपेतो वीभत्सादिनिरन्तरः** । भावप्रकाशनम्, ८/१८२

३ **ख्यातेतिवृत्तं निर्हास्यश्रृङ्गाररौद्रमुदितम्** । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ १७८

४ **अङ्गीरौद्ररसस्तंत्र .... रसाः पुनः** । साहित्यदर्पण, ६/२४२

५ **चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः** । दशरूपकम्, ३/६०

६ **अशान्त हास्य श्रृङ्गारः विमर्शः ख्यातवस्तुकः** । नाट्यदर्पण, सूत्र ८६

७ **लुप्तावमर्शसन्धिश्च चतुस्सन्धिसमन्वितः** । भावप्रकाशनम्, ८/१८२

८ **चतुर्भिरङ्ककेरन्वीतनिर्विमर्शकसन्धिभिः** । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ १७८

९ **वृत्तयः .... निर्विमर्शाश्च सन्धयः** । साहित्यदर्पण, ६/२४४

१० **मायेन्द्रजाल बहुलो ....युक्तश्च** । नाट्यशास्त्र, २०/८८

११ क **मायेन्द्रजाल ....रौद्ररसेऽङ्गिनि** । दशरूपकम्, ३/५९

ख **माया ....इन्द्रजालसमाकुलः** । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ २६६

ग **रौद्र .... सेन्द्रजालरणो डिमः** । नाट्यदर्पण, सूत्र ८६

घ **मायेन्द्रजाल .... ख्यातेतिवृत्तकः** । साहित्यदर्पण

१२ **सप्रवेशकविष्कम्भकश्चतुरङ्को डिमः स्मृतः** । भावप्रकाशनम् ८/१८२

१३. **सप्रवेशकविष्कम्भक ....हि डिमं विदुः** । रसार्णवसुधाकर, पृष्ठ – १७८

त्रिपुरदाह, भावप्रकाश में *तारकोद्धरण* तथा *वृजोद्धरण* तथा रसार्णवसुधाकर में *वीर-विजृम्भणम्* दिया गया है।

निष्कर्ष

समस्त रूपक भेदों का पारिभाषिक आलोचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् ही यह तथ्य स्पष्ट होता है कि किन-किन रूपक भेदों में लोक-संस्कृति की धारा अधिक स्पष्ट रूप से प्रवहमान है।

नाटक रूपक भेद में नायक एवं कथावस्तु दोनों ही उदात्त प्रख्यात होने के कारण नागरिक संस्कृति के अधिक निकट होते हैं। राजवर्ग या विशिष्ट वर्ग के वर्णन एवं सम्वाद के कारण यदा-कदा ही लोक की अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है।

पर अन्य रूपक भेद जैसे प्रकरण, प्रहसन इत्यादि में इतिवृत्त लोक स्तर का होता है, तथा अमात्य, विप्र, वणिक् इत्यादि सामान्य जन इसके नायक होते हैं, तथा अन्य पात्रों की बहुलता के कारण भी ये तत्कालीन संस्कृति को स्पष्ट करने में समर्थ है। इसी प्रकार प्रहसन रूपक भेद भी धृष्टनायक से युक्त होकर तत्कालीन समाज का परिचय देने में समर्थ है।

तृतीय अध्याय

लोक-संस्कृति का सामाजिक सन्दर्भ

भारतीय संस्कृत साहित्य की दृश्य परम्परा के वाहक रूपक-भेदों का समाज से अटूट सम्बन्ध रहा है। ये रूपक-भेद सदैव सुखान्त होने के साथ-साथ अपने तत्कालीन युग की दशा को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। संस्कृत रूपक अपने युग के सामाजिक वर्गों, मान्यताओं, निष्ठाओं, नैतिक व्यवस्थाओं, धार्मिक विश्वासों, परम्पराओं, संस्कृति, वेश-भूषा, उत्सवों एवं कलाओं को अत्यन्त नियोजित ढंग से व्यक्त करता है तथा उसमें उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों के वर्गीकरण से उस युग की सामाजिक व्यवस्था की झलक मिलती है। इसी प्रकार पात्रों की भाषाभेद सम्बन्धी मान्यताएँ भी सामाजिक वातावरण और युग की मान्यताओं को अभिव्यञ्जित करती हैं।

वर्ण-व्यवस्था

प्राचीन युग के भारतीय समाज को वर्ण-चतुष्टय की शृंखला मर्यादित ढंग से बांधे हुए थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र नियोजित तरीके से अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करके समाज की व्यवस्था को बनाये रखते थे।

संस्कृत नाटकों में आये हुए *चतुर्णां वर्णानाम्*[१], *वर्णेभ्यो*[२] *वर्णाश्रमाणाम्*[३] आदि शब्दों का प्रयोग तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था के स्थिर एवं नियत स्वरूप के परिचायक थे तथा राजा इन सभी वर्णों को अभय देने वाला होता था।[४]

---

१. चतुर्णां वर्णानाभयमिव......- प्रतिमानाटकम् - ४/७

२ यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो.... - अभिज्ञानशाकुन्तलम् २/३

३ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अङ्क ५, पृष्ठ ८४

४ प्रतिमानाटकम्- ४/७

वर्ण-क्रम की दृष्टि से समाज में *ब्राह्मण* का प्रथम स्थान था, ऋषियों का तो सर्वोच्च स्थान था, जो ब्राह्मण यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अध्यापन में संलग्न था वह ऋषि कल्प और पूज्य था। ब्राह्मण का प्रथम स्थान था क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र ये तीनों वर्ण ब्राह्मण की पूजा एवं अभ्यर्चना करते थे तथा राजा भी विशिष्ट ब्राह्मणों के सत्कारार्थ आसन से उठ जाया करता था। यही कारण है कि *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*[१] में राजा दुष्यन्त तुरन्त आसन छोड़कर अग्नि-गृह में कण्व-शिष्यों के आगमन की प्रतीक्षा करता है। इसी प्रकार मृच्छकटिकम् में ब्राह्मण को आगे स्थान दिया जाता था- विदूषक कहता है — *समीहितसिध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्त्तव्य*[२]।

इसी प्रकार *मालविकाग्निमित्रम्*[३] नाटक में राजा अग्निमित्र आचार्य गणदास और हरदास को देखकर उन्हें आदरपूर्वक स्थान देता है। इस प्रकार ब्राह्मण पूज्य होते थे। भास की भी रचनाओं में ब्राह्मण वचनों के अतिक्रमण न करने का प्रसङ्ग अनेक स्थानों पर मिलता है[४] तथा ब्राह्मणों को पहले प्रणाम करने की भी परम्परा थी। *पञ्चरात्र*[५] में दुर्योधन भीष्म से पहले आचार्य द्रोण को प्रणाम करता है, किन्तु द्रोण भीष्म को पहले प्रणाम करने के लिए कहते हैं, इस पर भीष्म अनेक कारणों से स्वयं को अपकृष्ट कहते हैं। इसी रूपक[६] में ब्राह्मण को अनेक अपराध करने पर भी अवध्य

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अङ्क ५, पृष्ठ ८४

२ मृच्छकटिकम् पृष्ठ - ४३४

३ स्वागतं भवद्भ्याम् .... आसने तावदन्न भवतोः - मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अङ्क, पृ० २७

४ कर्ण·- ब्राह्मणवचनमिति न मयातिक्रान्तपूर्वम् :- भासनाटकचक्र, पृष्ठ ४८६

५ पञ्चरात्र - १/५

६ भीम.- पूज्यतमाः खलु ब्राह्मणाः तस्माच्छरीरेण ब्राह्मणशरीरम्

भीमः सर्वापराधे वध्यत्वान्मुच्यतां द्विजसत्तमः- भासनाटकचक्र, पृष्ठ ४३२

कहा गया है तथा ब्राह्मण का वध करने पर नरक की प्राप्ति होती थी ऐसा निर्देश मृच्छकटिकम् में चारुदत्त के द्वारा किया गया है जब उसे मृत्यु दण्ड सुना दिया जाता है तब चारुदत्त कहता है-

विषसलिलतुलाग्नि प्रार्थिते मे विचारे

क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य

अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि

पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः॥[1]

इसी प्रकार हत्या का अपराध करने पर भी ब्राह्मण वध का निषेध होने से उसे अक्षय वैभव के साथ राष्ट्र से निर्वासित कर दिया जाता था। मृच्छकटिकम् में चारुदत्त के ऊपर हत्या का आरोप होने पर भी ब्राह्मण होने के कारण उसके वध का निषेध किया जाता है।

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत

राष्ट्रद्रस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह[2]

समाज में ब्राह्मण की अभिलाषा तथा अनुरोध का उल्लंघन नहीं किया जाता था। शर्विलक के द्वारा विदूषक के प्रति कहे गये कथन में यह तथ्य स्पष्ट होता है।

अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः। तद्गृहीतम्[3]

सामाजिक उत्सव आदि में ब्राह्मण की दक्षिणा का बड़ा माहात्म्य माना जाता

---

१. मृच्छकटिकम् -९/४३

२ मृच्छकटिकम्- ९/३९

३. मृच्छकटिकम् तृतीय अङ्क - पृ० १२५

था तथा व्रत, उपवास[१] आदि धार्मिक क्रियाओं में ब्राह्मण की दक्षिणा अनिवार्य होती थी। कुछ ब्राह्मण ऐसे भी होते थे जो प्रतिग्रह, दक्षिणा आदि स्वीकार नहीं करते थे। *मृच्छकटिकम्* प्रकरण में शर्विलक ऐसे ही चतुर्वेदज्ञ और अप्रतिग्राहक ब्राह्मण का पुत्र है।[२]

ब्राह्मण श्रुतियों का ज्ञाता तथा वेद पाठ में निपुण होता था। अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन भी ब्राह्मण का धर्म था। महर्षि कण्व और आचार्य द्रोण इसके उदाहरण हैं। ब्राह्मण धर्म में यजन-याजन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। ब्राह्मण नित्य दैनिक हवन, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता था।[३] राजा के यज्ञों में ब्राह्मण ही अनुष्ठाता होता था। राजा यज्ञों में विद्वान् ब्राह्मणों को आमंत्रित करता था और यज्ञावसान पर प्रभूत दक्षिणा देता था।[४]

पठन-पाठन के अलावा आपद्धर्म में ब्राह्मण कृषि, गो-पालन तथा वाणिज्य-वृत्ति भी स्वीकार करते थे। मृच्छकटिकम् के चारुदत्त इसका निदर्शन है वह ब्राह्मण होते हुए भी वाणिज्य एवं व्यापार को जीविका रूप में ग्रहण करने के कारण सार्थवाह कहलाते हैं।[५]

ब्राह्मणों में यज्ञोपवीत संस्कार का चलन था। यह संस्कार ब्राह्मणत्व की पहचान होते थे[६] तथा ब्राह्मणों की विशिष्ट वेश-भूषा में उसकी शिखा भी होती थी,

---

१ आर्य! सम्पन्नं भोजनं निःसपत्नं च
अपि च दक्षिणा क्वापि ते भविष्यति- मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १९

२ मृच्छकटिकम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ १६९

३ भो. नैत्यकावसाने प्राणिधर्ममनुतिष्ठति मयि.... प्रतिमागृहं प्रविष्टः - प्रतिमानाटकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७७।

४ पञ्चरात्र - १/४

५ मृच्छकटिकम्- नवम् अङ्क, पृष्ठ ४७९

६. विदूषकः - यज्ञोपवीतेन ब्राह्मणः चीवरेण रक्तपटः।
यदि वस्त्रमपनयामि श्रमणको भवामि॥ भासनाटक चक्र, पृष्ठ १६९

जिसका सङ्केत अभिज्ञानशाकुन्तलम्[1] में मिलता है। यष्टि भी ब्राह्मण-वेश का एक आवश्यक उपकरण थी। पञ्चरात्र[2] में इसका सङ्केत मिलता है।

कहीं-कहीं ब्राह्मण उपहास और हंसी का भी पात्र होता था। मृच्छकटिकम् के चतुर्थ अङ्क में जब विदूषक मैत्रेय चेटी के साथ वसंतसेना के प्रकोष्ठ का अवलोकन करता रहता है वहां पर उसे खाने की वस्तुएँ देखकर लोभ भी होता है।[3] इस प्रकार समाज में पूज्य ब्राह्मणों के अलावा उपहास पाने वाले लोभी ब्राह्मण भी होते थे।

भाणों में ब्राह्मणों की चरित्र की भ्रष्टता को बहुत ही बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है। इस विपुल साहित्य में सम्भवतः इस वर्ग की जितनी चारित्रिक कमजोरियों, ढकोसलों तथा आडम्बरों पर पर छींटाकशी की गयी है उतनी समाज के किसी अन्य वर्ग पर नहीं। भाणों में ब्राह्मणों को श्रोत्रिय, पुरोहित, ज्योतिषी, पौराणिक, कथावाचक, आदि अनेक रूपों में चित्रित किया है। श्रोत्रिय ब्राह्मणों के पुत्र पिता द्वारा यज्ञार्थ सुरक्षित धन को गणिका के सुरत रूप यज्ञ में आहूत कर देते थे। विद्वान् ब्राह्मण भी वेदशास्त्र एवं पुराणों का अध्ययन व्यर्थ समझकर मोक्षसुख को काल्पनिक मानकर, कन्याओं को फुसलाकर उन्हें कलत्र के रूप में रखते थे।[4] सोमयाजी ब्राह्मण भी वेशवाट में जाते थे तथा प्रतिश्रुत धन न देने पर जरती द्वारा अपमानित भी होते थे। इतना ही नहीं, कभी-कभी निर्धनता की स्थिति में ब्राह्मण पुत्र अपने पिता का धन चुराकर कामाराधन करते थे। कभी उपहारादि देकर गणिकाओं को प्रसन्न कर कामसुख प्राप्त करते थे तथा उनके सो जाने पर वस्त्राभूषण एवं धन लेकर चम्पत हो

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ८०

२ विप्रा यान्ति वयः प्रकर्षशिथिला यष्टित्रिपादक्रमाः....-पञ्चरात्र, १/५

३. मृच्छकटिकम् चतुर्थ अङ्क पृ० १७५।

४ संस्कृत भाण साहित्य की समीक्षा : डा० श्री निबास मिश्र, पृ० २१२।

जाते थे। आचार भ्रष्टता की इस स्थिति में ब्राह्मणों की पत्नियाँ उनसे पीछे नहीं थीं। ब्राह्मण पुरोहित तो घूमकर पुरोहिताई में धनार्जन करते थे, उनकी पत्नियाँ वह धन तरुणों को देकर स्वैराचार करती थी। पुरोहितों का आचरण और भी उन्मुक्त था। पुरोहित लोग पौरोहित्य कर्म में कमाये धन को वेश्याओं पर बहा देते थे तथा प्रतिश्रुत धन न देने पर खाला द्वारा झाड़ू से पीटे जाते थे। वेश पुरोहित ऊपर से देखने में तो बड़ा पवित्र लगता था किन्तु वास्तव में उसका आचरण अत्यन्त घृणित होता था।[१]

पौराणिक कथावाचकों का आचरण भी लगभग ऐसा ही था, ये लोग कथा बाँचते समय कामिनियों तथा श्रद्धालु विधवाओं के प्रति शृङ्गार चेष्टायें कर उन्हें अपने प्रति अनुरक्त करते थे।

ज्योतिषियों का भी आचरण लगभग इसी प्रकार का था, ये लोग अत्यन्त निम्न स्तर पर उतरकर अनैतिक आचरण में सहायक होते थे। मुकुन्दानन्द भाण में ज्योतिषी वीतिहोत्र का चरित्र अत्यन्त निकृष्ट था। कलकण्ठ कहता है कि यह वीतिहोत्र चेटी में अनुरक्त है। दक्षिणा के रूप में जो धन इसे मिलता है वह चेटी की आराधना में लगा देता है।[२]

वैयाकरण और वैष्णव भी वेश्याओं से प्रच्छन्न प्रेम किया करते थे। पद्मप्राभृतक में पाणिनि व्याकरण का विद्वान् दत्तकलशि रशनावतिका से तथा वैष्णव पुत्र मत्तकाशिनी की पुत्री वारुणिका से प्रेम करता है।

इस प्रकार ब्राह्मणों के लगभग प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को भाणों में भ्रष्ट चरित्र ही प्रायः चित्रित किया गया है। सम्भवतः वास्तविकता के अभाव में भी ब्राह्मणों,

---

१. **संस्कृत भाण साहित्य की समीक्षा : डा० श्री निवास मिश्र, पृष्ठ २१३-१४**

२ **मुकुन्दानन्द भाण - पृष्ठ १७**

ज्योतिषियों, आचार्यो आदि को कामासक्त दिखाने में भाणकारों का तात्पर्य ढोंग की हँसी उड़ाना है।

क्षत्रिय का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था एवं क्षत्रिय ही राजपद का अधिकारी होता था। प्रजा पालन एवं लोकानुरञ्जन राजा का परम धर्म था।[१] अभिज्ञानशाकुन्तलम्[२] में प्रजा का पालन राजा का धर्म बताया गया है। समस्त प्रजा के लिये राजा बन्धु होता था। 'शाकुन्तलम्'[३] में राजा अत्यन्त मार्मिक घोषणा करते है कि 'प्रजा में जो भी व्यक्ति अपने जिस-जिस प्रेम सम्बन्ध से वियुक्त होता है पापकर्म के अतिरिक्त दुष्यन्त उनके लिये वह सम्बन्धी है।' प्रजा के लिए राजा के द्वारा किये गये त्याग की पराकाष्ठा का उदाहरण 'उत्तररामचरित्' में मिलता है। जब राजा राम कहते हैं- 'जनता की प्रसन्नता के लिये स्नेह, करुणा, सुख अथवा जानकी को भी छोड़ने में मुझे पीड़ा नहीं होगी।

'स्नेहं दयां च सौख्यं यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥'[४]

क्षत्रिय अतीव पराक्रमी एवं बलशाली होता था, उसके शौर्य का उपयोग प्रजा की रक्षा के लिये किया जाता था। प्रतिमानाटकम्[५] में जब रावण सीता का अपहरण

---

१ **स्वसुखनिरभिलाषः स्विद्यसे लोकहेतोः।**

प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५/७

२ **भानु : ....धर्म एषः - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५/४**

३ **येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।**

स स पापाद्वते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६/२३

४ **उत्तररामचरितम् - १/१२**

५. **...... क्षात्रधर्मे यदि स्निग्धः कुर्याद् रामपराक्रमम्। प्रतिमानाटकम्, ५/२१।**

करके ले जाता है, तब सीता कहती है- *यदि राम को क्षात्र-धर्म में आस्था हो तो मेरी रक्षा करें।*

क्षत्रिय की सम्पत्ति उसके शस्त्र होते थे।[१] वह वचन का बलवान होता था। प्रतिज्ञा-पालन क्षत्रिय का व्रत होता था।[२] क्षत्रिय ब्राह्मणों की ही तरह उच्च थे। ब्राह्मणों की तरह उनके भी जात, कर्मादि संस्कार-सम्पन्न होते थे[३] तथा द्विज शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों के साथ-साथ क्षत्रियों के लिए भी होता था।[४]

व्यायोग में क्षात्रधर्म के विषय में सङ्केत मिलता है। *मध्यम व्यायोग*[५] में क्षत्रिय के विषय में कहा गया है कि वह अपने प्राणों के द्वारा भी ब्राह्मण की रक्षा के लिये तत्पर रहता है।

वैश्य वर्ण के लिये नाट्य में वणिज, नैगम, श्रेष्ठी, सार्थवाह आदि शब्दों का प्रयोग होता था। विक्रमोर्वशीयम्[६] चारुदत्तम्[७] तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्[८] में इसका सङ्केत मिलता है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय के समान वैश्यों का भी समाज में उच्च स्थान था। व्यापार

---

१. बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धि.........। पञ्चरात्र, १/२४।

२. तस्मात् प्रतिज्ञां कुरु वीर। सत्यां सत्या प्रतिज्ञा हि सदा कुरुणाम्। पञ्चरात्र, १/४९।

३. यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्।

- विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ २४६।

४. द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः। मृच्छकटिकम्, १/३

५. मध्यमव्यायोग- प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३४।

६. विक्रमोर्वशीयम् - ४/१३।

७. श्रेष्ठिचत्वेट ....। चारुदत्तम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १११

८. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठ अङ्क, पृष्ठ १२१

एवं वाणिज्य उनका प्रमुख व्यवसाय था। वैश्य देश को समृद्ध करने के लिये व्यापार में संलग्न रहते थे। व्यापारियों के पृथक्-पृथक् समुदाय होते थे जो सार्थ[१] कहलाते थे। धन प्रधान व्यवसाय एवं कर्म के कारण वैश्यों का स्वभाव भी कटु एवं कर्कश हो जाया करता था। वे लोभी, समृद्ध तथा अपने व्यवसाय में कठोर बन जाते थे। स्थलीय व्यापार के साथ-साथ सामुद्रिक व्यापार भी प्रचलित था। शाकुन्तलम् में समुद्र व्यापारी धनमित्र इसका प्रमाण है। मृच्छकटिकम् प्रकरण में वैश्यों के द्वारा अनेक नगरों में जाकर वैभव का विस्तार करने के प्रसङ्ग मिलते हैं।[२] मृच्छकटिक में ही वसंतसेना तथा मदनिका के वार्तालाप से यह सूचित होता है कि वैश्य जन व्यापार के लिये दूर देश जाते थे। वसंतसेना — चेटि, *'उपारूढस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन महद्वियोगजं दुःखमुत्पादयति।'*[३] *वसंतसेना कहती है — हे चेटी! व्यापारी पुरुष प्रवृद्ध प्रेम वाले प्रेमी जन को छोड़कर विदेश चले जाने से महान वियोगजनित दुःख को उत्पन्न करता है।*

शूद्र को समाज में अधम वर्ण का माना जाता था।[४] इनके षोडश कर्म संस्कार नहीं होते थे। शूद्र के विषय में मनुस्मृति का कथन है- शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा'[५] । मनु के अनुसार उनके समस्त धार्मिक कार्य बिना मंत्रों के होने चाहिये।[६] शूद्रों को तपस्या करने का कोई अधिकार नहीं था। उत्तररामचरितम् में

---

१. **पथिकसार्थ विदिशाणमिमम्।** मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अङ्क ३४८

२. **किमनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वणिजयुवा..। मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ९७**

३. **मृच्छकटिकम् द्वितीय अङ्क पृष्ठ ६९**

४. **वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधम** । मृच्छकटिकम् - १/३२

५. **मनुस्मृति** - ८/४१३

६. **मनुस्मृति** - १०/१२७

भगवान राम आकाशवाणी के निर्देशानुसार तपस्या करते हुए शूद्र शम्बूक का वध करते हैं।

'रामः— हे हस्तदक्षिण! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।[१]

शूद्रों के लिए कुछ भी पाप नहीं था। धर्म में शूद्रों का कोई अधिकार नहीं था। इसलिये देवार्चन के समय वेदमन्त्रों को उच्चारित किये बिना ही देवताओं को प्रणाम करने का सङ्केत प्रतिमानाटकम् में मिलता है,[२] तथा शूद्रों के अलावा अन्त्यज भी होते थे,[३] जो अस्पृश्य होने के कारण नगर से बाहर प्रच्छन्न रूप में रहते थे तथा वध, शीर्षच्छेदन, शूलरोपण में दक्ष होते थे, नगर में प्रवेश करते समय ये जोर-जोर से आवाज देते हुए चलते थे, जिससे मनुष्य उनके स्पर्श भय से मार्ग से हट जायें।[४]

इन चार वर्णो की व्यवस्था के अतिरिक्त पृथक्-पृथक् व्यवसाय से पृथक्-पृथक् समुदाय के सङ्केत मिलते हैं जो आगे चलकर व्यावसायिक जातियों में परिवर्तित हो गये। जैसे-मालविकाग्निमित्रम् में शिल्पकार[५] तथा शाकुन्तलम् में धीवर[६], लुब्धक[७] यवनी[८] आदि जातियों का प्रसङ्ग मिलता है। गृहस्थ अपना पैतृक कर्म ही ग्रहण करते थे तथा परम्परागत पैतृक कर्म निन्दित होने पर भी परिहरणीय नहीं था।[९]

---

१. उत्तररामचरितम् - २/१०

२. .... वार्षलस्तु प्रणामः स्यादमन्त्रार्चित दैवतः। प्रतिमानाटकम् - ३/६

३. श्रुतमस्माभिरन्त्यज इति। - अविमारक - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १७।

४. अपसरत आर्याः अपसरत किं प्रेक्षध्वे। - मृच्छकटिकम्-दशम् अङ्क, पृष्ठ ५२५

५ अहो बकुलवलिका। सखि! देव्या इदं शिम्पिसकाशादानीतम् ..- मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीय अङ्क पृष्ठ २६३

६ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठ अङ्क, पृष्ठ ९७

७ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २७

८. एवं बाणासनहस्ताभिर्यवनीभि.। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २७

९ सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ६/९

सामाजिक प्रथायें

समाज और राष्ट्र के उत्कर्ष में सामाजिक प्रथाओं का भी योग रहता है। ये प्रथायें मानव को समाज से सुसम्बद्ध करने वाली कड़ियाँ होती है। समाज में लौकिक रीतियों और प्रथाओं के बन्धन बड़े कठोर होते थे। इन प्रथाओं का पालन प्रत्येक सामाजिक के लिए अनिवार्य था, उनका उल्लंघन करने वाला दण्ड का भी भागी होता था। विविध रूपक-भेदों में अनेक प्रकार की सामाजिक प्रथाओं एवं उनके पालन की अनिवार्यता के प्रसङ्ग मिलते हैं। ***अभिषेकनाटकम्***[१] में राम बालि को छोटे भाई की स्त्री को दूषित करने के अपराध में दण्ड देते हैं। लोक निन्दा और लोकापवाद के भय से भी लोग लौकिक प्रथाओं का पालन करते थे।[२] अभिषेकनाटकम्[३] में राम प्रजा के विश्वास के लिये परम-पुनीता सीता की अग्नि परीक्षा लेते हैं।

समाज में विवाहिता नारी के लिये सामाजिक बन्धन अत्यन्त कठोर होते थे। विवाहिता स्त्री चाहे पति की प्रिया हो या अप्रिया, पतिगृह में ही रहना लोकसम्मत माना जाता था।[४] पिता के गृह में विवाहोपरान्त उसका निवास लोक निन्दा का कारण बनता था। मनुष्य उसके लिये अनेक प्रकार की शंकायें करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में समाज के इस नियम की ओर शकुन्तला के विषय में कथन करते हुये स्पष्ट रूप से सङ्केत किया गया है।

---

१. अभिषेकनाटकम् - १/२१

२. दण्डितस्त्व हि दण्डयत्वाद् अदण्डयो नैव दण्डयते।-अभिषेकनाटकम्, पृष्ठ १६

३. जानतापि च वैदेह्याः शुचितां धूमकेतन।
प्रत्ययार्थं हि लोकानामेवमेव मया कृतम्॥ - अभिषेकनाटकम्, ६/२९

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ५/२७

सतीमपि ज्ञाति कुलैसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमती विशङ्कते।

भर्तुः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥[१]

राजा एवं प्रजा का सम्बन्ध मधुर था, राजा प्रजा का रक्षक एवं कष्ट निवारक था। विक्रमोर्वशीयम् में इसका सङ्केत मिलता है[२] तथा अपने सुख की चिन्ता वह नहीं करता था। प्रजारञ्जन में दत्तचित्त रहता था,[३] तथा राज्याभिषेक के पश्चात् ही राजा पर प्रजा के भार का दायित्व आ जाता था। प्रतिमानाटकम्[४] में ऐसा प्रसङ्ग मिलता है, जब राजा कहता है- *मैं पृथ्वी पर पुण्यभार का वहन करने वाला राजा बन गया हूँ। मैंने न्यायपूर्वक प्रजा पालन् के उत्तरदायित्व उठा लिया है।'* समाज एवं लोक के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करके राजा अपने कर्तव्य का पालन करता है तथा लोक निन्दा से बचने का प्रयास करता है। अभिषेकनाटकम्[५] में राम लङ्का विजय के पश्चात् रावण के प्रासाद में रही सीता की पवित्रता को जानते हुये भी लोकापवाद के भय से पत्नी के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं।

इसी प्रकार शाकुन्तलम् में शार्ङ्गरव के द्वारा दुष्यन्त के लिये कहा गया यह श्लोक दुष्यन्त की लोक मर्यादा को बताता है-

'महाभागः कामं नरपतिभिन्नस्थितिरसौ।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ५/१७

२. आलोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां।
तुभ्योद्योगस्तव च सवितुरचाधिकायेमतोनः॥ विक्रमोर्वशीयम्, २/१

३ अभिज्ञानशाकुन्तलम् -५/७

४ राजा किलास्मि भुवि सत्कृत भारवाही।
धर्मेण............................॥ प्रतिमानाटकम्, ७/११

५ जानतापि च वैदेह्य शुच्तिां धूमकेतन्।
प्रत्ययार्थं हि लोकानामेवमेव मया कृतम्॥ अभिषेकनाटकम्, ६/२९

न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते

तथापीदं राश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा।

जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव॥[१]

मातृ-दोष के कारण पुरुषों को दोषी या अपराधी नहीं समझा जाता था। इसी आधार पर प्रतिमानाटकम्[२] में भरत माता के दोषी होने पर भी स्वयं को निर्दोष सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार राज्याभिषेक आदि विशेष अवसर पर अभिनन्दन की प्रथा थी। जैसे- प्रतिमानाटकम्[३] में राम के राज्याभिषेक के अवसर पर लक्ष्मण आदि भ्राता और समस्त बन्धु-बान्धव उनका अभिनन्दन करते हैं।

कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिये शपथ या सौगन्ध खाने की प्रथा प्रचलित थी। मनुष्य प्रायः अपनी प्रियतम वस्तु की शपथ खाते थे। स्वप्नवासवदत्तम्[४] नाटक में विदूषक अपने मित्र राजा को सत्य कहने के लिये मित्रता की शपथ दिलाता है। पैरों की शपथ खाने की भी विचित्र प्रथा प्रचलित थी। प्रतिमानाटकम्[५] में भरत सुमन्त्र को सत्य वृत्तान्त बताने के लिए दशरथ के चरणों की शपथ दिलाते हैं। इसी प्रकार मृच्छकटिकम् में विदूषक शर्विलक को गौ और ब्राह्मण की अभिलाषा की शपथ दिलाता है।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५/१०

२ सुपुरुष! पुरुषाणां मातृदोषो न दोषो। प्रतिमानाटकम्, ४/२१।

३ प्रतिमानाटकम् - सप्तम् अङ्क, पृष्ठ १८२,१८३।

४ वयस्यभावेन शापितः असि, यदि सत्यं न भणासि। स्वप्नवासदत्तम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १११।

५ स्वर्गगतेन महाराजपादमूलेन।

शापितः स्याः यदि सत्यं न ब्रूयाः। प्रतिमानाटकम्, षष्ठ अङ्क, पृष्ठ १५१

'शर्विलक:- अनतिक्रमणीया भगवती गो काम्या ब्राह्मणकाम्या च तद्गृह्णामि अथवा ज्वलति प्रदीप:[१]*'*

उस समय समाज में जुए की भी प्रथा थी। जुआरियों के अपने नियम वेष मण्डली थी जिसके नियमों का पालन करना प्रत्येक जुआरी के लिये आवश्यक था। जुए का खेल वैध माना जाता था और यदि कोई देय धन नहीं देता था तो न्यायालय द्वारा वह धन वसूल कराया जाता था- "*राजकुलं गत्वा निवेदयाव:*"[२] तथा द्यूतक्रीड़ा में हारने पर द्यूतकार के लिए उसका भुगतान आवश्यक होता था अन्यथा उसके साथी उसे परेशान करते थे मृच्छकटिकम् में जुआरी संवाहक से कहता है—

'यदि व्रजसि पातालमिन्द्रं शरणं च साम्प्रतं यासि।

सभिकं वर्जयित्वैकं रुद्रोऽपि न रक्षितुं तरति॥'

अर्थात् यदि रक्षा के लिये तुम पाताल में जाते हो या इन्द्र की शरण में चले जाते हो तो इस समय एक मात्र सभिक को छोड़कर शिव भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते।[३]

इस प्रकार जुआरियों की अवस्था अच्छी नहीं थी। कभी-कभी कुत्ते के कटवाये जाने तथा सिर नीचे और पैर ऊपर करके लटकाये जाने जैसी यन्त्रणाएँ उन्हें भोगनी पड़ती थी[४] तथापि द्यूत-क्रीडा कोई बुराई अथवा निन्द्य व्यसन नहीं माना जाता था। जब तक धन अथवा साधन रहते थे, कोई भी व्यक्ति जुआ खेल सकता था। चारुदत्त जैसे संभ्रान्त व्यक्ति को यह घोषित करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ कि वह धरोहर

---

१ मृच्छकटिकम् तृतीय अङ्क पृष्ठ १२४

२ मृच्छकटिकम् पृष्ठ ९०

३ मृच्छकटिकम् १/३

४ मृच्छकटिकम् २/१२

वाला आभूषण जुए में हार गया है। *'त्रेता' 'पावर' 'नर्दित'* तथा *'कट'* नामक जुए के दाँवों का उल्लेख मृच्छकटिकम् में मिलता है।[१]

जुये के अलावा चोरी करने की भी प्रथा थी। चौर कर्म अत्यन्त विकसित प्रतीत होता है और उसने एक व्यवस्थित विज्ञान का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। *कार्तिकेय, कनकशक्ति* तथा *भाष्करनन्दी* चोरों के देवता एवं आराध्य थे। सेंध लगाने का शास्त्र ही बन गया था। शर्विलक, द्वारा किये गये सन्धिविच्छेद का नितान्त सूक्ष्म विवरण नाटक में प्रस्तुत किया गया है, लेकिन चोरों की भी अपनी एक आचरण-संहिता थी। जिस घर में केवल नारियां होती थीं, उस घर में सेंध नहीं लगाई जाती थी। अलंकृत सुकुमार नारी तथा धात्री की गोद में पड़े बालक का अपहरण नहीं होता था। ब्राह्मण के लिए सुरक्षित सुवर्ण और यज्ञ के लिए आयोजित सामग्री की चोरी नहीं की जाती थी। शर्विलक ने मदनिका को विश्वास दिलाया है कि चोरी करने में भी उसकी कर्तव्याकर्तव्य बुद्धि विवेक के साथ काम करती है।[२]

वेश्यालय तत्कालीन समाज की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। सभी वर्ग के व्यक्ति वहाँ जा सकते थे, यद्यपि धनवानों के लिए ही उसका विशेष गौरव एवं सम्मान था। उज्जयिनी में वसन्त-सेना का भव्य प्रासाद निर्मित था जिसे देखकर मैत्रेय ने कहा था कि वह कुबेर के भवन में आ गया है। इससे उस महल के वैभव ऐश्वर्य का ज्ञान होता है जिसका विस्तृत विवरण नाटक के चौथे अंक के उत्तरार्ध में दिया गया है।[३]

इसी प्रकार **कर्पूरचरित भाण** में यह प्रसङ्ग मिलता है कि तत्कालीन समय में द्यूतक्रीडा में प्रेयसी समालिंगनण जीतने का भी रिवाज था।

---

१ मृच्छकटिकम् २/९

२ मृच्छकटिकम् ४/६

३. मृच्छकटिकम् पृष्ठ २४७-४८

सामाजिक सम्बन्ध

राजा एवं प्रजा के समान ही स्वामी सेवक के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। स्वामी सेवकों को पुत्रवत् मानता था। सेवकों में भी स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति होती थी। सेवकों के साथ दया एवं स्नेह का व्यवहार उचित माना जाता था। महर्षि कण्व शकुन्तला के पतिगृहगमन के समय उसे अपने परिजन के प्रति उदार रहने की शिक्षा देते हैं।[१] सेवक स्वामी का अन्न खाकर कपट नहीं करता था।[२] स्वामी को विपत्ति से बचाने के लिए प्राण तक बलिदान करने को तत्पर रहता था। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यौगन्धरायण ऐसा ही स्वामिभक्त अमात्य था, उसकी यह उक्ति अत्यन्त मर्मस्पर्शी है,- 'स्वामी, रिपुनगर, बन्धुनगर, वन, सर्वत्र मुझे ही अपने समीप पायेंगे।[३] प्रतिज्ञायौगन्धरायण में राजा उदयन विपत्ति के समय अपने स्वामिभक्त अमात्य का स्मरण करता है।[४] इस तरह यौगन्धरायण राजा के सुख दुःख का साथी है वह अपने बुद्धि चातुर्य से अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके अपने स्वामी को महासेन के बन्धन से मुक्त कराता है।[५]

सेवक अपने स्वामी के सुख से सुखी एवं दुःख से दुःखी रहते थे। 'स्वप्नवासवदत्तम्'[६] में रुमण्वान् वासवदत्ता के मरण से दुःखी राजा के दुःख से अत्यन्त

---

१ भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४/१८।

२. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३४।

३. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्- १/४।

४. मा तावत्! सर्वसचिवमण्डलमतिक्रम्यैकोयौगन्धरायणो द्रष्टव्य इत्याह।

- प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३४

५ रिपुगतमपनीय वत्सराजं ग्रहणमुपेत्य रणे स्वशस्त्रदोषात्।
अयमहमपनीतभर्तृदुःखो जितमिति राजकुले सुखं विशामि। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, ४/५

६ स्वप्नवासवदत्तम् - १/१४

खिन्न है, और उसे यथाशक्ति आश्वासित करने का प्रयत्न करता है। वह स्वामी के भूखे रहने पर स्वयं भी कुछ नहीं खाता, उसके साथ-साथ रुदन करता है, और राजा के साथ-साथ दुःखी रहता था।

सेवकों पर स्वामी का प्रभुत्व रहता था अतः सेवक अपने स्वामी की आलोचना करने में भी भयभीत रहते थे। 'अविमारक'[१] में राजा कुन्तिभोज जब अपनी कन्या के वर निर्णयार्थ अमात्य भूतिक से परामर्श लेते हैं तो अमात्य अपना मन्तव्य प्रकट करने में हिचकिचाता है।

सेवकों की स्वामी के प्रति अनन्य निष्ठा का कारण सम्भवतः स्वामी का भृत्य के प्रति उदार एवं सद्भावमय व्यवहार ही था। प्रतिज्ञायौगन्धरायण[२] में राजा उदयन विपत्ति के समय अपने स्वामिभक्त अमात्य का ही स्मरण करता है।

क्रीतदास प्रथा के भी प्रचलित होने के सङ्केत कुछ रूपक भेदों में मिलते हैं, ये धनिकों के घर में रहते थे। दास स्वामी की आजन्म सेवा करते थे। दासत्व से मुक्ति पाने के लिये मूल्य देना पड़ता था। चारुदत्तम् नाटक[३] में सज्जलक अपनी प्रेमिका मदनिका को वसन्तसेना के दासत्व से मुक्ति दिलाने के लिये चोरी करके आभूषण लाता है। दासों की समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं थी। दासत्व का कारण पूर्व जन्म का पाप माना जाता था, अतः दास जन्म-जन्मान्तर में दासत्व से मुक्ति पाने के लिए दुष्कर्मों और पापों से दूर रहने का प्रयत्न करते थे।[४]

---

१. न भृत्यदूषणीया राजानः स्वामिनो हि स्वाम्यममात्यानाम्। अविमारकम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ २१

२. मा तावत्। सर्वसचिवमण्डलमतिक्रम्यैकोयौगन्धरायणो द्रष्टव्य इत्याह।

– प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् प्रथम अङ्क पृष्ठ ३४

३ यावदिदानीं वसन्तसेनायाः परिचारिकाया मदनिकाया निष्क्रयार्थं मयेदं कृतम्।

– चारुदत्तम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १०६

४. येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः
अधिकं च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि। मृच्छकटिकम्, ८/२५

समाज में एक वर्ग भेद गृहस्थ एवं संन्यासी का भी था। गृहस्थ लोक मर्यादा में भी रहकर परिवार और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था। परिवार का रक्षण एवं पालन गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य था। इसके लिये वह अपना पैतृक कर्म या आजीविका ही ग्रहण करता था।[१] परिवार के साथ-साथ समाज का भी उस पर ऋण रहता था। समाज के नियमों एवं परम्पराओं का पालन उसके लिए अनिवार्य था। वह लोक मर्यादा एवं लोक सीमा का उल्लंघन कर लोकापवाद का भागी नहीं बनता था।

गृहस्थ के नैतिक एवं आध्यात्मिक शुद्धि के लिए दैनिक एवं धार्मिक अनुष्ठान भी विहित थे। इन अनुष्ठानों में व्रत, उपवास, धर्माचरण तन-मन-वचन तथा कर्म से देवार्चन आदि समाविष्ट थे। मृच्छकटिकम्[२] में मैत्रेय द्वारा देव-पूजन की निन्दा करने पर चारुदत्त कहता है- हे मित्र! ऐसा मत कहो? *तन-मन-वचन तथा बलिकर्म द्वारा गृह देवताओं का पूजन गृहस्थ का नित्य नियम है।* गृहस्थ जन ही वार्धक्यावस्था में अपने पुत्र आदि पर कुटुम्ब का भार सौंपकर वानप्रस्थ या संन्यासी बन जाते थे। प्रतिमानाटकम्[३] में महाराज दशरथ अपने पुत्र को राज्याभिषिक्त करके वन जाने का विचार करते हैं कुछ ऐसे भी संन्यासी थे जो सांसारिक कष्टों और आपदाओं से उद्विग्न होकर परिव्राजकत्व ग्रहण कर लिया करते थे। चारुदत्तम्[४] नाटक में संवाहक द्यूतकर द्वारा किये गये अपमान से खिन्न होकर शाक्य श्रमणक बन जाता है। संन्यासियों के लिए सिर मुंडाना ही पर्याप्त नहीं था, अपितु इन्द्रिय दमन भी आवश्यक था, ऐसा सङ्केत

---

१ सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६/१

२. मृच्छकटिकम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३३।

३ एवं मया श्रुतं भर्तृदारकमभिषिच्य महाराजो वनं गमिष्यतीति। प्रतिमानाटकम् प्रथम अङ्क पृष्ठ १७

४ अथैव कदाचिन्निर्वेदेन प्रव्रजेयम्। चारुदत्तम् द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ६६

मृच्छकटिकम् में मिलता है। सांसारिक कारणों से भी कभी-कभी तपस्वी प्रभावित होते थे। शकुन्तला के विदा के समय भी महर्षि कण्व को अपने तपोपरोध की चिन्ता पीड़ित करती है।[१] तपस्वी जन नगर के अपमानों और दोषों से बचने के लिये शान्त आश्रम में निवास करते थे।[२] तपस्वियों का जीवन शम प्रधान और तेजोमय होता था।[३] आश्रमवासियों की सुरक्षा का दायित्व राजा का होता था। तपस्वियों के विघ्नों के ज्ञान के लिये राजा की ओर से एक धर्माधिकारी नियुक्त होता था।[४] राजा ऋषियों की तपस्या में बाधक विघ्नों का निवारण करता था और तपोवन के प्राणियों के साथ असत् व्यवहार करने वालों को दण्ड देता था।[५]

सामाजिक विश्वास

समाज में विभिन्न प्रकार के विश्वास प्रचलित थे—

(क) शुभ निमित्त -

(1) आकाश में बिजली एवं प्रचंड वायु से विद्ध नूतन बादलों की गर्जना से अथवा कम्पायमान पृथ्वी के घूमने से किसी महापुरुष के अवतार की सूचना ग्रहण की जाती थी।[६]

---

१ वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७७

२ स्वप्नवासवदत्तम् - १/५

३. शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः। अभिज्ञानशाकुन्तलम् २/७

४ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १८

५ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ५/८

६ बालचरितम्- ९ १ ९

(2) पुरुष का दक्षिण अक्षि-स्पन्दन शुभसूचक माना जाता था।[१] मृच्छकटिकम् के अलावा मालती माधव में भी अक्षिस्पन्दन का संकेत मिलता है। मालती-माधवम् में कामन्दकी का यह कथन स्त्रियों के वाम नेत्र स्पन्दन की शुभता को प्रकट करता है।

(3) काममन्दकी - विवृण्वतेव कल्याणमान्तरज्ञेन चक्षुषा। स्फुरता वामकेनापि, दाक्षिण्यमवलम्ब्यते॥[२] अर्थात् हमारे मन की बातों को जानते हुये जो फड़क कर शुभ सूचनाएं दे रहा है, ऐसा यह मेरा वामनेत्र दक्षिणता अर्थात् उदारता का अवलम्ब ले रहा है।

(ख) दुर्निमित्त

(1) आकाश में जलती हुई उल्काओं का गिरना अशुभ माना जाता था।[३]

(2) कौए का शुष्क वृक्ष की शुष्क शाखा पर बैठकर उस पर अपनी चोंच घिसना और सूर्याभिमुख होकर भयावह स्वर में क्रन्दन करना दुर्निमित्त का द्योतक समझा जाता था।

भूतप्रेत-

तत्कालीन समाज में भूत-प्रेत[४], पिशाच आदि में भी लोग बहुत विश्वास करते थे। इन प्रेतात्मा जीवों का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रतिहारी राजा से कहता है कि किसी अदृष्ट रूप वाले प्राणी ने माणवक को

---

१ मृच्छकटिकम्, - ६/२४

२. मालतीमाधवम् १/९

३. दूतवाक्यम् - १/२५

४. पञ्चरात्र, अंक 2, पृष्ठ ५२

मेघप्रतिच्छन्द नामक प्रासाद के अग्रभाग में रख दिया है।[1]

ज्योतिष-

फलित ज्योतिष और नक्षत्र विद्या में भी मनुष्यों की आस्था थी। नवीन कार्यारम्भ के लिये, ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त आदि के मांगल्य का विशेष ध्यान रखा जाता था। राज्याभिषेक, युद्ध के लिये प्रस्थान, गृह-प्रवेश, यज्ञारम्भ, विवाह-संस्कार आदि कार्य सदा मांगलिक एवं ज्योतिष सम्मत मुहूर्त में ही सम्पन्न किये जाते थे। अविमारक में अमात्य भूतिक शुभ नक्षत्र में कुरंगी के वरान्वेषण के लिए प्रस्थान करते हैं।[2] प्रतिमानाटक में भरत के नगर प्रवेश के समय भट भरत से कृत्तिका नक्षत्र की समाप्ति पर नगर में प्रवेश करने के लिये कहता है।[3]

दैव

भाग्य या विधि के सर्वातिशायी प्रभाव में तत्कालीन नागरिकों की अटल आस्था थी। सम्पूर्ण जगत विधि की लीला माना जाता था। विधाता ही समस्त चराचर विश्व की स्थिति का नियामक था।[4] उसके विधान का कोई भी प्राणी उल्लंघन नहीं कर सकता था।[5] मानव जीवन की विविध क्रियाओं के साफल्य और असाफल्य में दैव का प्रमुख हाथ रहता था।[6]

---

१ अदृष्टरूपेण केनापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः- अभिज्ञानशाकुन्तलम् पृष्ठ १२४

२ अद्य नक्षत्रं शोभनमिति तेन च दूतेनामात्य आर्यभूतिक प्रस्थितः- अविमारक, अंक २, पृष्ठ ६०

३ प्रतिमानाटकम्, अंक ३, प्र० ६४

४ मृच्छकटिकम्, - १०/५९

५ विधिरनतिक्रमणीयः। प्रतिमानाटकम्, अङ्क 2, पृष्ठ ५६

६ प्रतिज्ञायौगंधरायणम्- १/३

दुर्दैव के शमनार्थ मनुष्य तीर्थादि भी जाते थे। "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में महर्षि कण्व शकुन्तला के भाग्य की प्रतिकूलता की शान्ति के लिये सोमतीर्थ जाते हैं।[१] दैव के प्रति अगाध निष्ठा होते हुये भी जन-जन में पुरुषार्थ विद्यमान था। बालचरित में कंस अपने पुरुषार्थ से दैव तक को वंचित करने की शक्ति रखता है।[२]

शिक्षा-व्यवस्था

भारतवर्ष में शिक्षा की सुव्यवस्थित एवं सुचिन्तित परम्परा रही है। शिक्षा जहाँ एक ओर ज्ञान का माध्यम थी वहीं अच्छे संस्कारों की वाहिका भी थी।

उस समय शिक्षा प्राप्त करने के लिये जन कोलाहल से दूर आश्रम की व्यवस्था होती थी। आश्रमों का प्रधान अधिकारी *कुलपति* कहलाता था।[३] आश्रमों के संरक्षण व शान्ति व्यवस्था का भार राजा पर होता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[४] में अनुसूया भ्रमर द्वारा संत्रस्त शकुन्तला को तपोवन के रक्षक राजा दुष्यन्त का स्मरण करने को कहती है।

आश्रम में आचार्य विद्यार्थी को विषय-विशेष का अधिकारी बनाते थे। विक्रमोर्वशीयम्[५] में राजकुमार आयु च्यवन ऋषि के निर्देशन में समस्त विद्याओं का अनुशीलन करके धनुर्वेद में विशेष योग्यता प्राप्त करता है। इसी प्रकार स्वप्नवासवदत्तम्[६] में ब्रह्मचारी लावाणक नामक ग्राम में स्थित शिक्षा केन्द्रों में वेदों का

---

१ दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थंगतः- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक १, पृष्ठ ९

२ बालचरितम्- २.१४

३ अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क पृष्ठ ९

४ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १६

५. गृहीतविद्यो धनुर्वेदऽभिविनीतः । विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २४६

६. श्रुति विशेषणार्थं वत्सभूमौ लावाणकं नाम ग्रामस्तत्रोषितवानस्मि। स्वप्नवासवदत्तम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ ४७

विशेष अध्ययन करने के लिये जाता है। इससे पता चलता है कि वहाँ एक विश्वविद्यालय राजकीय स्तर पर रहा होगा।

आश्रमों में ब्रह्मचर्य के नियम अत्यन्त कठिन होते थे। शाकुन्तलम्[१] में तन्वंगी शकुन्तला को वृक्ष सींचते देखकर दुष्यन्त कहते हैं- *कथमियं सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः, य इमामाश्रमंधर्मे नियुङ्क्ते।*

परम्परागत वैदिक आश्रमों के अतिरिक्त राजकीय शिक्षण संस्थायें भी होती थी। जहाँ शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। *मालविकाग्निमित्रम्* नाटक में राज भवन के समीप इसी प्रकार के राजकीय विद्यालय का उल्लेख हुआ है जिसमें दो विभाग थे, एक *संगीतशाला*[२] और दूसरी चित्रशाला[३]। राजपरिवारों के लिए राजगृह में शिक्षा की सम्यक् व्यवस्था होती थी। *प्रतिज्ञायौगन्धरायण*[४] मे महासेन की महिषी अपनी पुत्री वासवदत्ता को वीणावाद्न सिखाने के लिए एक आचार्य रखना चाहती है।

शिक्षा के क्षेत्र में गुरु या शिक्षक का महत्त्व तो था ही, समाज में भी उसे उच्च एवं विशिष्ट पद प्रदान किया गया था। *पञ्चरात्र*[५] हमें यज्ञ की समाप्ति पर गुरुजन का अभिनन्दन करते समय दुर्योधन गुरु होने के कारण आचार्य द्रोण को सर्वप्रथम प्रणाम करता है। शिष्य पिता सदृश गुरु का आदर करता था। गुरु शिष्यों के साथ पुत्रवत्

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३६

२ तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि- मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २६२

३ चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ति तिष्ठति । मालविकाग्निमित्रम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ २६४

४. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ५३

५ पञ्चरात्र - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १९

व्यवहार करता था। *शाकुन्तलम्*[१] में कण्व ऋषि शकुन्तला के विदा के समय अपने शिष्यों को आदेश देते हैं- 'जाओ । अपनी भगिनी को पहुँचा आओ।'

गुरु की योग्यता शिष्य के चयन में प्रकट होती थी। सुपात्र को दी गयी शिक्षा ही सफल होती थी। कुपात्र को दिया गया विद्या का दान मनोव्यथा का कारण बनता था।[२] विद्या की समाप्ति पर विद्या के शुल्क के रूप में विद्यार्थी द्वारा गुरु को वांछित दक्षिणा देने की रीति थी।[३] दक्षिणा का ही एक प्रसङ्ग *पञ्चरात्र*[४] में मिलता। दुर्योधन यज्ञ के अवसान पर आचार्य द्रोण को दक्षिणा स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है तथा इस दक्षिणा में उदारता की पराकाष्ठा दिखायी है। *स्वप्नवासवदत्तम्*[५], में कञ्चुकी के कथन में इसकी झलक दिखायी पड़ती है। उस काल में लिखित सामग्री का भी उपयोग होता था। अध्येय विषयों का ज्ञान पुस्तकों द्वारा भी कराया जाता था। *अविमारक*[६] में इसका सङ्केत मिलता है।

अध्येय विषयों की पुस्तकों की भांति लेखनकला भी प्रचलित थी। उर्वशी का प्रेम-पत्र[७], शकुन्तला का ललित पदों वाला प्रणय पत्र[८], सेनापति पुष्यमित्र का राजकीय लेख[९], कल्पवृक्ष के पत्तों से निर्मित वस्त्रों पर लिखी गयी दुष्यन्त की कीर्ति गाथा[१०] उस

---

१ भगिन्यास्ते मार्गमादेशय। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६७

२ सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृता । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६३

३ दीक्षां पारितवान् किमिच्छति पुनर्देयं गुरोर्वदभवेत् । स्वप्नवासवदत्तम्, १/८

४ भो आचार्य ! धर्मे धनुषि चाचार्य । प्रतिगृह्यतां दक्षिणा । पञ्चरात्र, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २४

५ काञ्चुकीयः - कस्यार्थः क्लेशेन ... दीयताम्। स्वप्नवासवदत्तम्, १/८

६. अविमारक नाटकम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ३३

७ विक्रमोर्वशीयम् - २/१३

८ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४९

९ मालविकाग्निमित्रम् - पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३५२

१०. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ७/५

समय के प्रचलित लेखन शैली के उदाहरण है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रयुक्त लेख साधनम्[१] शब्द लेखन सामग्रियों के अस्तित्व को द्योतित करता है। पत्र रूप में नलिनी पत्र[२], भूर्जपत्र[३] का प्रयोग किया जाता था। शकुन्तला ने कमलपत्र पर तथा उर्वशी ने भूर्जपत्र पर अपने मनोभाव व्यक्त किये थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आये *'नखैर्निक्षिप्तवर्ण कुरु'*[४] से ज्ञात होता है कि नखों को पैना व नुकीला बनाकर लेखनी का काम किया जाता था।

रूपक भेदों में जिन अध्येय विषयों का सङ्केत मिलता है। उसके अन्तर्गत ऋग्वेद[५], सामवेद[६], गणित[७], हस्ति-शिक्षा[८], वैशिकी-कला[९], नृत्य-कला[१०], गान्धर्व-विद्या[११], चौर्य-विद्या[१२], संवाहन-कला[१३], धनुर्वेद, सांगोपांगवेद[१४], मानवीय धर्मशास्त्र[१५],

---

१ न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनं साधनानि। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४९

२ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४९

३ भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः । विक्रमोर्वशीयम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १८०

४ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४९

५ मृच्छकटिकम् - १/४

६ मृच्छकटिकम् - १/४

७. मृच्छकटिकम् - १/४

८. मृच्छकटिकम् - १/४

९. मृच्छकटिकम् - १/४

१० मृच्छकटिकम् - १/४

११. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ६३

१२. मृच्छकटिकम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५६-१७१

१३ मृच्छकटिकम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १२७

१४ पञ्चरात्र - तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५५

१५ प्रतिमानाटकम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३४

माहेश्वर-योगशास्त्र[१], बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र[२], मेधातिथि का न्यायशास्त्र[३], दर्शन[४], नाट्य-विद्या[५], ज्योतिष[६] का भी प्रसङ्ग आया है। इसके अलावा अपराजिता[७] नामक विद्या तिरस्कारिणी[८] जैसी रहस्य विद्यायें भी प्रचलित थीं, जिनकी सिद्धि से अदृश्य होने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

विविध रूपक भेदों में प्राप्त शिक्षा व्यवस्था की झलक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में छात्र जीवन में आत्मानुशासन, इन्द्रिय-निग्रह, दैनिक अनुष्ठान आदि पर विशेष बल दिया जाता था। विद्या तप की तरह थी, ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य था। इस प्रकार समस्त सत्संकारों से युक्त होकर छात्र गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था।

नारी की स्थिति

भारतीय नारी संस्कृति का अभिन्न अङ्ग है। प्राचीन भारतीय समाज में नारी विषयक दृष्टिकोण उदार एवं विशाल था। वैदिक आर्यो की दृष्टि में नारी धर्म एवं अर्थ की प्रदात्री, वैभव एवं सुख की जननी गृहलक्ष्मी रूपा और सर्वपूज्या समझी जाती थी।[९]

---

१ प्रतिमानाटकम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३४

२. प्रतिमानाटकम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३४

३ प्रतिमानाटकम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३४

४. प्रतिमानाटकम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३४

५ मालविकाग्निमित्रम् - १/४

६ मालविकाग्निमित्रम्- पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५१

७ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - सप्तम् अङ्क, पृष्ठ १३९

८. विक्रमोर्वशीयम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १७७

९. वीमेन इन संस्कृत ड्रामाज, रत्नमयी देवी दीक्षित, पृष्ठ १५

भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र में इसी तथ्य का समर्थन किया है, उनके अनुसार-संसार में मानव मात्र का चरम लक्ष्य सुख है और सुख का मूल आधार नारी है।[१] मनु भी नारियों के सम्मान में विश्वास रखते है, कहते है – 'जहाँ नारियों का आदर एवं सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते है[२] जहाँ उनको अपमान एवं अनादर की दृष्टि से देखा जाता है वहाँ सभी क्रियायें निष्फल सिद्ध होती है।[३]

महाभारत[४] में भी नारी के माहात्म्य के विषय में लिखा है कि – 'भार्या पुरुष का आधा भाग है।' इस प्रकार लज्जा, त्याग एवं प्रेम की साक्षात् प्रतिमा नारी, कन्या, गृहिणी, सहचरी, एवं माता के कर्मठ रूपों में परिवार, समाज और राष्ट्र की मंगल विधात्री है।

समाज में बेटी का जन्म आदर की दृष्टि से देखा जाता था। बेटी की जन्म के समय अच्छे शगुन का श्रेय पुत्री को ही दिया जाता था। बालचरितम्[५] में कहते हैं- इतने बड़े शगुन केवल बेटी होने से होते हैं। इसी प्रकार पुत्रियां माता को अधिक प्रिय हुआ करती थीं। इसका सङ्केत बालचरितम्[६] में मिलता है। बेटी का जन्म नाटक अविमारक[७] बेटी के लिये तो आदरणीय था, पर विवाह भी चिंता का विषय था। सुपात्र की चिन्ता राजा के स्वर में प्रकट होती है। कन्या के पिता को बहुत चिन्ता

---

१. सर्व· प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा।
सुखस्य च स्त्रियो मूलं नानाशीलधराच ताः । नाट्यशास्त्र, २०/९३

२. मनुस्मृति – ३/५६– यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

३. मनुस्मृति – ९/४५

४. अर्धं भार्या पुरुषस्य' –महाभारत आदिपर्व – ७४–४१।

५. राजा मा तावत् । एतानि महानिमित्तानि द्वारिकाप्रसूतिमात्रेण उत्पद्यन्ते। बालचरितम्, द्वितीय अङ्क भास, पृष्ठ ४८।

६. दारिकासु स्त्रीणामधिकतरः स्नेहो भवति। बालचरितम्, भास, द्वितीय अङ्क।

करनी पड़ती है। नारी उस समय पितृकुल एवं श्वसुरकुल दोनों का मान हुआ करती थी। साथ ही साथ जामाता सम्पत्तिशाली हो, ऐसी सोच थी।

पुत्री पिता के घर में अमानत की ही तरह थी, तथा माता-पिता का असली सुख उसे सुपात्र को दान करके निश्चिंत होने में भी था। शाकुन्तलम्[१] में महर्षि कण्व की पुत्री के विषय में कही गई यह उक्ति अत्यन्त मार्मिक एवं प्रासङ्गिक है।

'अर्थो हि कन्या परकीय तामद्य-सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं-प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥'

अर्थात् कन्या वस्तुतः दूसरे का ही धन है। आज उस कन्या को पति के घर भेजकर मेरा यह अन्तःकरण धरोहर लौटा देने वाले व्यक्ति के अन्तःकरण की भांति निश्ंचित हो गया है। वैवाहिक सम्बन्धों में आज की तरह पत्नी का पति से छोटा होना ही मान्य था, यही कुल के सदृश था।[२] बेटी के विवाह में भावी वर से पिता की कुछ अपेक्षा हुआ करती थी, जैसे-वासवदत्ता के लिये वर के विषय में राजा की स्थिति सामान्य जन की है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण[३] के श्लोक से वर के विषय में पिता की अभिलाषायें स्पष्ट है। राजा कहते हैं- ''सर्वप्रथम मैं मन से वर के परिवार की कुलीनता चाहता हूँ। तत्पश्चात् चाहता हूँ कि यह दयावान्, मृदु, बलवान् हो, सुन्दरता भी चाहता हूँ तथा वह पराक्रमशाली भी हो क्योंकि स्त्रियों की रक्षा सदा होनी चाहिये।'

कुलं तावच्छलाघ्यं प्रथमभिकाङ्क्षे हि मनसा।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४/२२

२. कथमिदानीं ज्येष्ठपत्नी कनीयसे दीयते। अविमारक, षष्ठोङ्क, पृष्ठ १८७

३. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - २/४

ततः सानुक्रोशं मृदुरापि गुणो ह्येष बलवान्॥

ततो रूपे कान्तिं न खलु गुणतः स्त्रीजनभयात्।

ततो वीर्योदग्रं न हि न परिपाल्या युवतयः॥ २/४

इस तरह पुत्री के लिये अनुकूल वर का दायित्व पिता के प्रयत्न पर ही निर्भर करता है।[१]

कन्यायाः वरसम्पत्तिः पितुः (प्रायः) प्रयत्नतः।

भाग्येषु शेषमायत्तं दृष्टपूर्वं न चान्यथा॥

स्त्रियों का विवाह चिन्ता का विषय था, पर समाज में स्त्रियों का स्थान गरिमापूर्ण था। वह गृहलक्ष्मी के समान समझी जाती थी।[२] पति के घर सम्मानित होने पर नारी गृहस्वामिनी बनकर गृहिणी पद के भार का वहन करती थी तथा कुलवधू के लिये पति ही आभरण और मण्डन था। मृच्छकटिकम् प्रकरण में वसन्तसेना के मुख से ऐसा ही सङ्केत मिलता है।[३] पर साथ ही पति द्वारा परित्यक्ता स्त्री का समाज में कोई स्थान नहीं था, शकुन्तला दुष्यन्त द्वारा विस्मृत होने के पश्चात् अपमानित जीवन जीने के लिये विवश होती है उसके लिये पिता के घर में कोई स्थान नहीं बचता है। नारी पूरी तरह परतन्त्र भी थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त द्वारा निरादृत शकुन्तला कण्व-शिष्यों का अनुगमन करती है, तो शार्ङ्गरव उसके स्वेच्छाचरण पर क्रुद्ध होते हुये कहते हैं, '*शार्ङ्गरव (सरोषं निवृत्य)- किं पुरो भागेस्वतन्त्र्यमवलम्बसे।*'[४] शार्ङ्गरव का क्रोध नारी की विवशता को स्पष्ट करता है।

---

१. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - २/५।

२. अभिजनवती भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणी पदे। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४/१९।

३. आर्यपुत्र एवं मम आभरणविशेषाः इति जानातु भवति। मृच्छकटिकम्, षष्ठ अङ्क

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ९४

स्त्री की कौमार्यावस्था गुरुजन के संरक्षण में थी तथा विवाहोपरान्त स्त्री पूर्णतया पति के नियन्त्रण में होती थी। पति की प्रिया हो या अप्रिया, उसका पतिगृह में निवास लोक सम्मत था। दुष्यन्त के समीप शार्ङ्गरव लोक व्यवहार को स्पष्ट करते हुये कहते हैं – स्त्री के बन्धु-बान्धव चाहते हैं कि पति उसे चाहता हो या न चाहता हो। वह पति के ही पास रहे।'

'सतीमपिज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमती विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥'[१]

विवाह के पश्चात् पितृकुल की अपेक्षा पतिकुल में स्त्री का दासी होकर भी रहना उचित है। शार्ङ्गरव के ही कथन से स्त्री की यह विवशता स्पष्ट होती है।

'अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः। पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥' [२]

स्त्रियां अपने दुःखों की चिन्ता न करके पति के सुख-दुख की अधिक चिन्ता करती थीं। अभिषेकनाटकम्[३] में सीता अपने दुखों की चिन्ता न करके राम के विषय में आशंकित होते हुए हनूमान से कहती हैं- *'तुम राम से मेरी अवस्था का इस प्रकार वर्णन करना जिससे वह शोकाकुल न हों।'*

पति की प्रसन्नता एवं सन्तोष के लिए स्त्रियां सपत्नीत्व स्वीकार करने के लिये उद्यत रहती थीं। विक्रमोर्वशीयम् में रानी औशीनरी और मालविकाग्निमित्रम् में महारानी धारिणी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। मालविकाग्निमित्रम्[४] में रानी धारिणी

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ५/१७

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ५/२७

३. भद्र! एतां मेऽवस्थां श्रुत्वार्यपुत्रो यथा शोकपरवशो न भवति, तथा मे वृत्तान्तं भण

– अभिषेकनाटकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ४२।

४. भगवती! त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथम संकल्पितां मालविकामार्यपुत्राय प्रतिपादयितुम्।

– मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५५।

अग्निमित्र और मालविका की प्रणय-लीला को देखकर पहले तो अत्यन्त क्रुद्ध होती हैं और क्रोध वश मालविका को बन्दीगृह में डलवा देती हैं पर इसका पति पर कोई प्रभाव न देखकर अन्त में दोनों के विवाह के लिये तैयार हो जाती हैं। इसी प्रकार स्वप्नवासदत्तम् में महारानी वासवदत्ता अपने पति के उत्कर्ष के लिये समस्त राजयोग को त्यागकर प्रच्छन्नवेश में रहती है और पद्मावती के साथ अपने पति का विवाह कराने में सहायक सिद्ध होती है तथा इसी प्रकार पतिस्नेह की अधिकारिणी स्त्री के विषय में ऐसी मान्यता थी कि वह मृत्योपरान्त भी अजर-अमर मानी जाती थी।[१] इसीलिये विवाह आदि के अवसर पर नारी को सौभाग्यवती होने के साथ-साथ भर्तुर्बहुमता भव[२] भर्तुर्बहुमान सूचक महादेवी शब्दं लभस्व[३], भर्तुरभिमता भव[४] आदि आशीर्वाद परिवारजन की ओर से दिये जाते थे।

पति के विश्वास के लिये नारियां प्राणों की भी चिन्ता नहीं करती थी। संस्कृति में ऐसे समर्पण का आदर्श भारतवर्ष में ही सम्भव है। अभिषेकनाटकम्[५] में सीता राम के विश्वास के लिये अग्नि में प्रविष्ट हो जाती हैं। पत्नियां पति का प्रेम प्राप्त करने के लिये व्रत उपवास आदि भी करती थी[६] तथा भार्या पति की सुख-दु:ख की सहचरी होती थी। जीवन की सभी अवस्थाओं में पति की अनुगामिनी होती थी।[७]

---

१. धन्या मा स्त्री यां तथा वेत्ति भर्ता।
भर्तृस्नेहात् सा हि दग्धात्यदग्धा। स्वप्नवासवदत्तम्, १/१३।

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६५

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६५

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - पृष्ठ १४५

५. अभिषेकनाटकम् - ६/२५

६. यथानिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम्। दारिकाः एत गच्छामः। विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०६।

७. यावदिदानीमीदृशशोकविनोदनार्थमवस्थां कुटम्बिनीं मैथिलीं पश्यामि। प्रतिमानाटकम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ १२६।

प्रतिमानाटकम्[१] में सीता वनवास-गमन में राम का ही अनुवर्तन करती हैं।

समाज में बहुपत्नीत्व की प्रथा भी प्रचलित थी। प्रतिमानाटकम् में राजा दशरथ की कौशल्या आदि तीन रानियों का वर्णन मिलता है तथा स्वप्नवासवदत्तम्[२] में राजा महासेन की षोडश पत्नियां थीं। राजा दुष्यन्त के अनेक रानियां थी, मृच्छकटिकम् में आर्य चारुदत्त पहली पत्नी धूता के रहते हुये वसन्तसेना से विवाह करते हैं। बहुपत्नी प्रथा के बाद भी समाज में एक पत्नीव्रती भी होते थे, जैसे भगवान राम के चरिताङ्कन में एक पत्नी के रहते हुये अन्य विवाह के अस्वीकार करने का उदाहरण है। जहाँ राम शूर्पणखा से कहते हैं - 'मेरी पाणिगृहीता पत्नी साथ है। कोई दूसरी पत्नी नहीं चाहिये।[३]

गृहिणी एवं पत्नी के अतिरिक्त नारी का प्रेयसी का रूप भी दृष्टिगोचर होता है। प्रेयसी दो प्रकार की थीं। एक तो वह जो विवाह के पश्चात् पति को आराध्य समझ के उसी से एक निष्ठ प्रेम करती थीं, दूसरी वह जो विवाह के पूर्व ही किसी पुरुष को अपना तन-मन समर्पित कर देती थी। रानी औशनरी, महारानी धारिणी, सीता, धूता आदि प्रथम प्रकार की और उर्वशी, मालविका, शकुन्तला, कुरंगी, वासवदत्ता आदि दूसरे प्रकार की प्रेयसियां हैं।

माता का परिवार में विशिष्ट स्थान था। पुत्रवती नारी वंश-परम्परा की अविच्छिन्न निर्वाहिका होने के कारण कुल की प्रतिष्ठा होती थी। माता के रूप में नारी अपने समस्त सुखों का सार पुत्र की उपलब्धियों में ही अनुभव करती है। वीर पुत्र की

---

१. प्रतिमानाटकम् - १/२५।

२. षोडशान्तः पुराज्येष्ठां पुण्या नगरदेवता। स्वप्नवासवदत्तम्, ६/९।

३. मध्यकालीन संस्कृत नाटक— रामजी उपाध्याय, पृष्ठ ४६। (आश्चर्यचूडामणि नाटक)

माता बनने में वह गौरव का अनुभव करती थी। मालविकाग्निमित्रम्[१] में वसुमित्र की विजय पर परिव्राजिका द्वारा बधाई देने पर महारानी धारिणी यही कहती है।– 'मुझे यही सुख है कि मेरा पुत्र पिता के समान पराक्रमशाली बना।'

यही कारण था कि नारी को सदा चक्रवर्ती और वीर पुत्र की माता बनने का आशीर्वाद दिया जाता था।[२] पुत्र दर्शन से माता का रोम-रोम पुलकित हो जाता था। यही नारीत्व की सार्थकता थी।[३]

अभिज्ञानशाकुन्तलम्[४] में विरह पीड़ित दुष्यन्त के शोक का कारण उसका शकुन्तला के प्रति अखण्ड प्रेम तो है ही साथ ही उसके दुःख का हेतु यह भी है कि उसने गर्भवती शकुन्तला का परित्याग कर अपने वंश को ही समाप्त कर लिया।

सन्तानवती स्त्री वंश प्रवर्तिका होने के कारण पति के हृदय की भी अधिष्ठात्री होती थी। उसे पति का आदर एवं सम्मान प्राप्त होता था। कण्व शकुन्तला के विदा के समय इसी ओर सङ्केत करते हैं।[५]

विक्रमोर्वशीयम्[६] में राजा पुरुरवा अपने पुत्र आयु को देखकर उसकी माता

---

१. भगवति ! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः – मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५३।

२. वत्से ! वीर प्रसविनी भव। — अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६५

३. इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतपरा।
स्नेह प्रस्वनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्॥ विक्रमोर्वशीयम्, ५/१२

४. सरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्तामया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६/२४

५. ययातेरिव शर्मिष्ठा, भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४/७

६. स्वागतं पुत्रवत्ये ! इत आस्यताम् । विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २४८

उर्वशी का पुत्रवती का स्वागत है, कहकर सम्मानपूर्वक अर्द्धासन पर अधिष्ठित करता है।

पुत्रों द्वारा माता की आज्ञापालन में विशेष श्रद्धा दिखायी गयी है। कर्णभार[1] उत्सृष्टिकाङ्क में कर्ण माता के कहने के कारण ही युद्ध से विरति की भावना मन मे लाता है। माता मनुष्यों के लिये देवताओं की भी देवता मानी जाती थी।[2] उनकी आज्ञा शिरोधार्य होती थी। पुत्र माता के आदेश से अकार्य तक को करने के लिये बाध्य हो जाता था। मध्यमव्यायोग[3] में घटोत्कच अपनी माता के व्रतपारणार्थ उसके आदेश से ब्रह्महत्या तक के लिये उद्यत हो जाता था।

विधवा स्त्री पति की मृत्यु के बाद तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती थीं। विधवाओं के लिये समाज में विशेष सम्मान नहीं था। मालविकाग्निमित्रम्[4] में प्रयुक्त *'पुनर्नवीकृतवैधव्यदु:खया'* शब्द से विधवाओं की दयनीय स्थिति ज्ञात होती है। शुभ कार्य में विधवाओं की उपस्थिति वर्जित थी। विवाह सदृश उत्सवों पर सौभाग्यवती स्त्रियों की ही उपस्थिति शुभ मानी जाती थी। स्वप्नवासवदत्तम् में सौभाग्यवती नारियां ही जामाता उदयन को चतुश्शाला में ले जाती हैं। इसी प्रकार सम्बोधन में *अविधवे* शब्द कल्याण सूचक माना जाता था। स्वप्नवासवदत्तम्[5] में वासवदत्ता पद्मावती को अविधवा कहती हैं। इसी प्रकार पञ्चरात्र[6] में वृद्धगोपालक भी ऐसा ही कहता है।

---

१. कर्णः- अयं स कालः .... पुनश्च मातुर्वचनेन वारितः। कर्णभार, १/८

२. माता किल मनुष्याणां देवतानां व दैवतम्। मध्यमव्यायोग, १/३७

३. मध्यमव्यायोग - १/९

४. मालविकाग्निमित्रम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५०

५. उत्तिष्ठोत्तिष्ठाविधवे। भासनाटकचक्र, पृष्ठ ५५

६. वृद्ध गोपालकः- अविधवाश्च गोपयुवतयोः भवन्तु-भासनाटकचक्र, पृष्ठ ३८९

विधवा स्त्री पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं मानी जाती थी। उसकी संतान ही उसके पति की सम्पत्ति की अधिकारी होती थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[१] में सेठ धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् उसकी समस्त सम्पत्ति राज्याधिकार में होने वाली थी किन्तु गर्भस्थ बालक के कारण राजकीय होने से बच गयी।

पति की मृत्यु के उपरान्त कुछ स्त्रियां विधवा के रूप में कठोर जीवन व्यतीत करती थीं और कुछ पति के साथ ही अपने जीवन का अन्त कर लेती थीं। समर्पण की ऐसी ही पराकाष्ठा उरुभङ्ग[२] उत्सृष्टिकाङ्क में दुर्योधन की महिषी में देखने को मिलती है। जब वह पति के साथ ही अग्नि में प्रवेश का निश्चय कर लेती है। इसी प्रकार मृच्छकटिकम्[३] में पतिव्रता धूता अपनी इच्छा से पति का मरण रूप अमंगल सुनने से पूर्व अग्नि में प्रविष्ट होना चाहती है।

आधुनिक काल के भाणों में कुछ ऐसे भी प्रसंग आये हैं जहाँ साध्वी पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ सती होते हुए वर्णित की गयीं हैं। मदन-भूषण भाण में विट कहता है कि ऐसा भी क्या पतिव्रत धर्म, जिसके करने से रोगी तथा रुक्ष पति के मरने पर भी स्त्रियाँ उसके साथ जल जाती हैं। साध्वी स्त्रियाँ उत्सवों या किन्हीं अन्य विशेष आयोजनों को देखने अकेले नहीं बल्कि पति या परिकल्प किसी व्यक्ति के साथ ही जाती थीं।[४] विधवा स्त्री सौभाग्य सूचक वेश का परित्याग कर काषाय वस्त्र धारण करती थी।[५]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२१

२. एककृतप्रवेशनिश्चया न रोदिमि। उरुभङ्ग, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३८

३. मृच्छकटिकम् - दशम् अङ्क, पृष्ठ ५८९

४. संस्कृत भाण साहित्य की समीक्षा — लेखक डा० श्रीनिवास मिश्र पृष्ठ २७४/२७५

५. ततो भ्रातु शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्य दुःखया मया त्वदीयं वेशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते।
मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५०

सामाजिक कार्य क्षेत्र में भी नारी का योगदान अपेक्षित था। विविध सामाजिक उत्सवों में नारी पति के साथ सक्रिय भूमिका निभाती थी। मालविकाग्निमित्रम्[१] में धारिणी अशोक दोहदोत्सव का सम्पूर्ण आयोजन करती है तथा पति एवं परिवार के साथ उत्सव को सफल बनाती है। नारियों की दो श्रेणियां थीं। प्रकाश नारी जिन्हें गणिका भी कहा जाता था। अप्रकाश नारी जिन्हें वधू या कुलवधू कहा जाता था।

कुलवधुओं में पर्दा–प्रथा का चलन था स्त्रियां घर से बाहर घूंघट निकालकर जाती थीं। प्रतिमानाटकम् [२] में वन–गमन के अवसर पर सीता मार्ग में घूंघट निकालकर चलती हैं। शाकुन्तलम्[३] में शकुन्तला दुष्यन्त के समक्ष अवगुण्ठनवती बनकर आती है। यज्ञ, विवाह, व्यसन और वन में स्त्रियों का दर्शन दोष माना जाता है।[४]

कुल नारियों के अलावा सार्वजनिक स्त्रियां भी होती थीं, जो गणिका के नाम से जानी जाती थी। ये शिक्षित, विविध कलाओं[५], नृत्य, संगीत आदि में निपुण होती थीं। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति से गणिकाओं के सम्बन्ध होते थे पर समाज में यह उचित नहीं समझा जाता था। यही कारण है कि जब मृच्छकटिकम् के नवम अङ्क में न्यायधीश चारुदत्त से पूछते हैं —

'आर्य ! गणिका तव मित्रम्'[६] तो चारुदत्त लज्जित हो जाता है सामान्यतः इन्हें

---

१. जयतु जयतु भर्ता। देवी विज्ञापयति तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन ममारम्भः सफल. क्रियतामिति।

मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३४२

२. मैथिलि ! अपनीयतामवगुण्ठनम् । प्रतिमानाटकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ४४

३. का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्याः। शाकुन्तलम्, ५/१३

४. निर्दोषदृष्ट्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च। प्रतिमानाटकम्, १/२९

५. एषा रङ्गप्रवेशेन कलानां चैवशिक्षया। चारुदत्तम् १/२४

६. मृच्छकटिकम् - पृष्ठ ३५६

लोग सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तु समझते थे। पण्य स्त्रियों को कोई भी व्यक्ति धन देकर खरीद सकता था। मृच्छकटिकम्[१] प्रकरण में गणिका के प्रति समाज की यही धारणा दिखायी पड़ती है। चारुदत्त मृच्छकटिकम्[२] में कहता है जिसकी सम्पत्ति है उसी की वह कामिनी है क्योंकि यहं जन(गणिका) धन से वश में करने योग्य है। चारुदत्त का यह कथन गणिका के प्रति समाज की सोच का परिचय देता है।

गणिका को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। मृच्छकटिकम् में विदूषक के कथन से यह स्पष्ट है—

विदूषक : — ' *गणिकानाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते अपि च भो वयस्य, गणिका हस्ती कायस्थो भिक्षुश्चाटो रासभश्च यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।*[३]

अर्थात् वेश्या तो जूते के अंदर प्रविष्ट हुई कंकड़ के समान फिर दुख से निकाली जाती है, हे मित्र! वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिखारी, धूर्त, गधा जहां ये रहते हैं वहां दुष्ट भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। (सज्जनों का तो कहना ही क्या)।

इन गणिकाओं के विषय में यह धारणा थी कि यह सागर की लहर के समान चचल और सांयकालीन मेघ के सदृश अस्थिर अनुराग करने वाली वेश्यायें केवल धनापहरण ही जानती थी और अनुरक्त मनुष्य को निर्धन बनाकर छोड़ती थी।[४]

---

१. यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता, धनहार्यो ह्यसो जनः — मृच्छकटिकम्, ५/९

२ मृच्छकटिकम् - पृष्ठ ५/१९६

३ मृच्छकटिकम् - ५/१९६

४. समुद्रवीचीवचलस्वभावाः सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुष निरर्थं निष्पीडिततालक्तकवत् त्यजन्ति । मृच्छकटिकम्, ४/१

मृच्छकटिकम् में ही विट और शकार जब वसन्तसेना का पीछा करते हैं तब विट के द्वारा कथित यह श्लोक तत्कालीन समाज में वेश्या की स्थिति स्पष्ट करता है।

'वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे।
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥'[१]

अर्थात् उन्हें क्रय योग्य तथा सर्वजन उपभोग समझा जाता था वापी लता और नाव की भांति प्रिय, अप्रिय सबको स्वीकार करने की अपेक्षा उनसे की जाती थी।

समाज में इनको अत्यन्त अपवित्र तथा निम्न कोटि का माना जाता था,[२] तथा गणिकाओं के विषय में ऐसी धारणा थी कि वे अथवा उनसे सम्बद्ध वस्तुयें सद्गृहस्थ के गृह में नहीं प्रवेश कर सकती थी।[३] ये गणिकायें प्रभूत धन सम्पत्ति की अधिकारिणी और विशाल अट्टालिकाओं की स्वामिनी होती थी। मृच्छकटिकम्[४] में वसन्तसेना सम्पत्तिशालिनी दिखायी गयी है तथा भाणों में प्रयुक्त वेश, वेशवाट, वेशवाटी, वीथी आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है इससे पता चलता है कि गणिकाओं के रहने के लिये मोहल्ला नियत था जिसे वेशवीथी आदि कहा जाता था।[५]

भाणों में भी विविध वेशवीथियों के विस्तारपूर्वक वर्णन से गणिकाओं के समृद्ध

---

१. मृच्छकटिकम् प्रथम अङ्क - श्लोक ३२
२. न वेशजाताः शुचयस्तथांगनाः — मृच्छकटिकम् ४/१७
३. अलं चतुशालमिमं प्रवेश्य प्रकाशनारीधृत एष यस्मात्। मृच्छकटिकम्, ३/७
४. मृच्छकटिकम् - चतुर्थ अङ्क (सम्पूर्ण)।
५. संस्कृत भाणसाहित्य की समीक्षा लेखक डा० श्रीनिवास मिश्र, पृष्ठ २७४/२७५

जीवन की एक झाँकी मिलती है, पूर्ण उच्च प्रासादों की शोभा राजप्रसादों को भी तिरस्कृत करने वाली थी। शृङ्गार की इस हाट में संगीत, नृत्य, साज–सज्जा, यौवन तथा रतिविभ्रमों का सौदा हुआ करता था। पुष्पोहार, सुगन्धित द्रव्य तथा मद्य के चषकों की शोभा अवर्णनीय थी। हथिनी तथा पालकी की सवारी थी। नृत्य, गीत और वाद्य की ध्वनियाँ बरबस इन्द्रियों को वशीभूत कर लेती थीं। इन प्रासादों में नवयुवती तरुणियों को कहीं कामविद्या, नृत्य तथा संगीत की शिक्षा दी जाती थी तथा कहीं उनका प्रदर्शन होता था। कभी-कभी चैत्रयात्रा महोत्सव, भद्रकाली महोत्सव आदि अवसरों पर अथवा किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर पर प्रतियोगिता के रूप में भी इन कलाओं का प्रदर्शन होता था।

कुछ गणिकायें वेश्या शब्द का अपवाद भी होती थीं। यह अर्थ की अपेक्षा गुणों का सम्मान करती थी।[१] वसन्तसेना[२] इसी का उदाहरण है। वह गणिका होने पर भी दरिद्र किन्तु कुलवान् एवं सदाचारी चारुदत्त से सच्चा प्रेम करती थी तथा गणिका के लिये उदार पथ की भी व्यवस्था थी वह अपने इच्छित पुरुष से विवाह करके कुलवधू के वन्दनीय पद को प्राप्त कर सकती थी। मृच्छकटिकम्[३] में वसन्तसेना राजा द्वारा वधू पद से सम्मानित होकर चारुदत्त की पत्नी बन जाती हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में नारी प्रगति के पथ पर थी। नारी शिक्षा पुरुष के समान ही आवश्यक थी। स्त्री को आदर्श पत्नी, विदुषी बनने के लिये उसे शिक्षा देना अनिवार्य था। स्त्री शिक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। नाटक में अनेक शिक्षिता नारियों का वर्णन

---

१. दरिद्रपुरुष संक्रान्तमना: खलु गणिका लोके अवंचनीया भवति। मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ९९

२. यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि। — मृच्छकटिकम्, ८/३३

३. आर्ये वसन्तसेने! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृहाति। मृच्छकटिकम्, दशम् अङ्क, पृष्ठ ५९८

मिलता है।[१] शकुन्तला का ललित पद संयुक्त प्रेम-पत्र उसके शिक्षित होने का प्रमाण है, साथ ही उसकी साहित्यिक अभिरूचि का भी परिचायक है। नारियां संघर्ष का भी कारण होती थीं, विक्रमोर्वशीयम्[२] नाटक में वासवदत्ता का अपहरण उदयन और राजा महासेन के मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देता है। इसीप्रकार अभिषेकनाटकम्[३] में सीता राम-रावण युद्ध का कारण हैं।

धार्मिक क्षेत्र में नारी पति की सहयोगिनी एवं सहधर्मचारिणी थी।[४] शाकुन्तलम्[५] में महर्षि कण्व महाधर्माचरण के लिये दुष्यन्त को अपनी पुत्री शकुन्तला प्रदान करते हैं।

गृहस्थ के साथ-साथ वानप्रस्थाश्रम में भी पत्नी पति के धर्म पालन में सहयोग देती थी। कण्व शकुन्तला को विदा करते कहते हैं[६] -'तुम दीर्घ समय तक पृथ्वी की सपत्नी बनकर अद्वितीय वीर पुत्र को कुटुम्ब का दायित्व सौंपकर अपने पति के साथ आश्रम में प्रवेश करोगी।

इस प्रकार विविध रूपक भेदों में नारी की स्थिति पर विचार करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि उस समय में गृहस्थाश्रम में स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व था। नारियां शिक्षित

---

१. तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्ण चिन्त्य तावल्ललितपदबन्धनम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम् तृतीय अङ्क पृष्ठ ४८

२. विक्रमोर्वशीयम् - चतुर्थ अङ्क

३. ममदारापहारेण स्वयंऽग्रहित विग्रह.।
आगतोऽहं न पश्यामि द्रष्टुकामो रणतिथि:। अभिषेकनाटकम् ४/४२

४. ननु सहधर्मचारिणी खल्वहम्। प्रतिमानाटकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३९।

५. तदिदानींमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यताम् सहधर्माचरणेति। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ८६।

६. भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्ता तदर्पित कुटुम्बभरंण सार्धं, शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४/२०

भी होती थीं। पति के सम्मान का पात्र होने पर ही समाज में अच्छी दृष्टि से देखी जाती थी तथा दाम्पत्य जीवन में संगिनी होने के साथ-साथ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी सहयोगिनी होती थी।

चतुर्थ अध्याय

धर्म एवं नीति

रूपकों में धर्म-विषयक सन्दर्भ

संस्कृति निर्माण में धर्म एवं नीति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। ये दोनों समाज के दृढ़ आधारस्तम्भ हैं। जिस प्रकार पहियों के सहयोग के बिना रथ अपने गन्तव्य पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता उसी प्रकार धर्म एवं नीति के बिना संस्कृति का निर्माण असम्भव है।

धर्म मानव-जीवन के चार पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-में प्रथम एवं मूर्धन्य है। इसके द्वारा ही अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि होती है। इसी कारण आचार्यों ने इसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस-सिद्धि का मूल माना है।

व्याकरण के अनुसार 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु में मन् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसके व्युत्पत्तिलभ्य तीन अर्थ (या व्याख्याएँ) हैं- प्रथम, '*ध्रियते लोक: अनेन इति धर्म:*' अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाये वही धर्म है, द्वितीय 'धरति धारयति व लोकं इति धर्म:' अर्थात् जो लोक को धारण करे वह धर्म है और तृतीय 'ध्रियते य: स धर्म:' अर्थात् जो दूसरों द्वारा धारण किया जाय, उसी की धर्म संज्ञा है। '*महाभारत*' में धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है— '*धारणात् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजा:*'। इसके अनुसार धारण करना ही धर्म है।[१]

विविध रूपक भेदों में धर्म की चार शाखाओं का सङ्केत मिलता है जिन्हें ब्राह्मण, वैष्णव, शैव एवं बौद्ध मत के नाम से अभिहित किया गया है।

इन चारों शाखाओं में ब्राह्मण-धर्म (जिसे वैदिक-धर्म भी कहा जा सकता है) का अखण्ड साम्राज्य था। वेदों और शास्त्रों में जनता का अटल विश्वास था। जीवन के क्रिया-कलापों में शास्त्र-वचन प्रमाण माने जाते थे।[२] सामाजिक, धार्मिक,

---

१ अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एवं प्रतिगृह्य सेव्यते॥ कुमारसम्भव ५/३८

२ मृतैः प्रास. स्वर्गो यदिह कथयत्येतदनृतम्।
परोक्षो न स्वर्गो बहुगुणमिहैवैश फलति ॥ प्रतिज्ञायौगधरायणम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १२७

राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में शास्त्र-सम्मत निर्णय ही मान्य होता था। *'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्'* में भरतरोहत युद्ध में जीते हुए शत्रु के विषय में शास्त्र-सम्मत विधान पूछता है। वैदिक कर्मकाण्ड की प्रधानता एवं यज्ञादि को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। सर्वसाधारण में धार्मिक-क्रियाओं और यज्ञ-विधानों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। यज्ञानुष्ठान इसी पृथ्वी पर स्वर्ग-प्राप्ति का सोपान माना जाता था। 'पञ्चरात्र' में दुर्योधन यज्ञ-रूप धर्मकृत्य करने से इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सुख का अनुभव करता है।[१] याग-क्रियाओं में दयादाक्षिण्यादि गुणों की समाहिति मानी जाती थी और उनसे मानव के समस्त कल्मष धुल जाते थे। दुर्योधन कपटी एवं अयशोभागी होने पर भी यज्ञ-दीक्षित होने के कारण सुकृती के रूप में शोभायमान होता है।[२] उस युग में गृहस्थ की दिनचर्या में पञ्च महायज्ञ[३](ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, और नृतय) की भावना विद्यमान थी। चारुदत्त का नित्य गृहस्थोचित देव-पूजन[४], देव-बलि-अर्पण[५] और सन्ध्या, जपादि धर्माचरण[६], पञ्चरात्र की महत्ता की परिचायक है। इन्द्र[७], अग्नि[८] विष्णु[९], वरुण[१०], सूर्य[११] रुद्र[१३], मरुत,[१२] यम[१४] आदि वैदिक देवताओं को विशेष महत्त्व प्राप्त था।

---

१. पञ्चरात्र - १/२२

२ मनुस्मृति - ३/६९,७०

३ तपसा मनसा वाग्भि. पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिना नित्यं देवताः किं विचारितैः॥ मृच्छकटिकम् , १/१६

४ तद्वयस्य । कृतो मया गृहदेवतायो बलिः। गच्छ त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर।- मृच्छकटिकम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ 20

५ अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे।— मृच्छकटिकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ 189

६ अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे। — मृच्छकटिकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १८९

७ मृच्छकटिकम् — २/३

८ पञ्चरात्र— १/४

९ मृच्छकटिकम् — ६/२७

१० अभिज्ञानशाकुन्तलम् — चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६९

११ मृच्छकटिकम् — ६/२७

१२ पञ्चरात्र — १/१६

१३ अभिषेकनाटकम् — ६/३०

१४ अभिषेकनाटकम् — ६/३३

परम्परागत वर्णाश्रम-धर्म की समुचित व्यवस्था थी।[१] समाज में ब्राह्मणों का सर्वोत्कृष्ट पद था। पृथ्वी पर पूज्यतम[२] होने के कारण के कारण धार्मिक आयोजनों में उनको अग्रिम स्थान दिया जाता था।

वैष्णव धर्म

विविध रूपक भेदों में वैष्णव धर्म का सङ्केत मिलता है। वैदिककालीन विष्णु जो प्रकृति के दिव्य शक्ति मात्र थे, इस युग में सर्वशक्तिमान देवता बन गये थे। वे त्रैलोक्य के आदि कारण[३] और त्रिलोक में अभिनीत क्रिया-कलापों के सूत्रधार[४] माने जाते थे। उनके दशावतारों का अत्यधिक माहात्म्य था। विवेच्य नाटकों में विष्णु के सात अवतारों - राम[५], कृष्ण[६], बलराम[७], वराह[८], वामन[९], नृसिंह[१०] और मत्स्य[११] का निरूपण मिलता है। विष्णु पृथ्वी पर धर्म के संस्थापन और अधर्मियों के विनाश के लिए अवतार लेते हैं[१२] — ऐसा तत्कालीन धार्मिक विश्वास था, जिसमें निःसन्देह गीता की परम्परा है।

---

१ भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। — अभिज्ञानशाकुन्तलम् पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ८४

२ द्विजोत्तमा पूज्यतमाः पृथिव्याम् । मध्यमव्यायोग १/९

३ नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय नारायणाय । अभिषेकनाटकम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७७।

४ दूतघटोत्कच — १/१

५ अभिषेकनाटकम् - १/१

६ वयमपि मनुष्यलोक मवतीर्णस्य भगवतो विष्णोर्बालचरितमनुचरितुं गोपालकवेषप्रच्छना घोषमेवावतरिष्यामः। — बालचरितम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २०

७ स्वप्नवासवदत्तम् — १/१

८ अभिषेकनाटकम् - ६/३१

९ बालचरितम् — १/१

१० अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ७/३

११. अविमारकम् — १/१

१२ इह तु जगति नूनं रक्षणार्थं प्रजानाम्।
असुरसमितिहन्ता विष्णुरद्यावतीर्णः॥ बालचरितम्, १/९

शैव-मत

वर्ण्य-काल में विभिन्न दार्शनिक एवं धार्मिक मतों के साथ-साथ शैव विचारधारा भी प्रवाहमान थी। इनके अनुसार केवल शिव ही इस चराचर जगत् के कारण थे। जल, अग्नि, पुरोधा, रवि, शशि, आकाश, पृथ्वी और वायु शिव के आठ व्यक्त रूप माने जाते थे।[१] वे अखण्ड समाधि[२] में स्थित होकर मुमुक्षु भक्तो की अभिलाषा पूर्ण करते थे।[३] शिव का अर्द्धनारीश्वर[४] रूप भी उपासना का विषय था। वेदान्त में वे संसार में व्याप्त परमपुरुष के नाम से प्रसिद्ध हैं।[५]

बौद्ध धर्म

आलोच्य-युग बौद्ध-धर्म का ह्रास-युग था। बौद्ध-धर्म उन्नति की ओर अग्रसर न होकर पतन की ओर गतिमान था। इसमें अनेक विकृतियों ने जन्म लिया था। लोग सांसारिक कष्टों से बचने के लिए (धर्माभिरुचि से नहीं) परिव्राजकत्व ग्रहण कर लेते थे। *'मृच्छकटिकम्'* में संवाहक सांसारिक जीवन से दुःखी होकर शाक्यश्रमणक बन जाता है।[६] बौद्ध-भिक्षुओं का समाज में आदर नहीं था। मनुष्य इनको घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। शाक्यश्रमणक का दर्शन अमांगलिक समझा जाता था। आर्यक को मुक्त करके जीर्णोद्यान जाते समय चारुदत्त मार्ग में भिक्षु को देखकर अमंगल की कल्पना करता है।[७]

---

१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् — १/१

२ शम्भोर्वः पातु शून्यक्षणघटितलय ब्रह्मलग्नः समाधिः-। मृच्छकटिकम्, १/१

३ विक्रमोर्वशीयम् - १/१

४ कान्तासंमिश्रदेहोऽयंविषयमनसां यः परस्ताद्यातीनाम् — मालविकाग्निमित्रम्, १/१

५ वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्यं स्थितं रोदसी—विक्रमोर्वशीयम्, १/१

६ आर्ये अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि।— मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १३६।

७ कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम् - मृच्छकटिकम्, सप्तम् अङ्क, पृष्ठ ३७१

देवता

धर्म और धार्मिक विचार-प्रणालियों का मूल आधार देवता है। देवता की अमोघ एवं अलौकिक शक्ति में विश्वास ही धर्म की नींव को दृढ़ करता है। तत्कालीन समाज में बहुदेववाद बद्धमूल हो चुका था। अनेक देवी-देवताओं में लोगों की आस्था बढ़ गयी थी। इन रूपक भेदों में जिन देवी-देवताओं का उल्लेख हुआ हैं— इन्द्र[१], वरुण[२], अग्नि[३], रुद्र[४], सूर्य[५], मरुत[६], यम[७], विष्णु[८], ब्रह्मा[९], शिव[१०], कुबेर[११], स्कन्द[१२], कामदेव[१३], चन्द्र[१४], नारद[१५], नगरदेवता[१६], गृहदेवता[१७], वनदेवता[१८], लक्ष्मी[१९],

---

१ मृच्छकटिकम् - २/३

२ अभिषेकनाटकम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६९

३. अभिषेकनाटकम् - ६/३०

४ मृच्छकटिकम् - ६/२७

५. अभिषेकनाटकम् - ६/३०

६. अभिषेकनाटकम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२३

७ मृच्छकटिकम् - ६/२७

८ मृच्छकटिकम् - ६/२७

९ मध्यमव्यायोग - १/४३

१० मृच्छकटिकम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २४७

११ मृच्छकटिकम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५९

१२ मृच्छकटिकम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५९

१३ अविमारक - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७९

१४ अभिषेकनाटकम् - ६/३०

१५ मृच्छकटिकम् - ५/११

१६ मृच्छकटिकम् - १/२७

१७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४/५

१८ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४/५

१९. अविमारक- २/३

कात्यायनी[१], सरस्वती[२], शची[३], गौरी[४], और मातृदेवियाँ[५]।

इन्द्र देवताओं का अधीश्वर था।[६] मेघों पर भी इसका आधिपत्य था। मेघ इन्द्र की आज्ञा से ही प्रचण्ड जलवृष्टि करते थे।[७] इन्द्र के सम्मान में शक्रध्वजोत्सव[८] और इन्द्रयज्ञ[९] जैसे समारोह भी आयोजित होते थे।

वरुण जल का देवता माना जाता था। कृषाण और गुप्त मूर्तियों में यह मगर पर बैठा हुआ है और दण्ड के लिए हाथ में पाश लिये हुए है।

अग्नि देवताओं का मुख माना जाता था। यज्ञादि[१०] धार्मिक अनुष्ठाओं में इसका विशेष महत्त्व था। राजगृहों में प्रासाद से पृथक् अग्न्यागार होते थे जहाँ निरन्तर अग्नि प्रदीप्त रहती थी।[११]

रुद्र एक वैदिक-कालीन देवता था, इसका प्रमुख अस्त्र परशु माना जाता था।[१२]

मरुत् वैदिक देवता के रूप में मरुत् की प्रतिष्ठा बनी हुई थी। मरुत् देवों का एक पृथक् समुदाय या गण[१३] था। ऋग्वेद में ये वृष्टि-देवता के रूप में वर्णित हैं।[१४]

---

१ अविमारक - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७४

२ अभिषेकनाटकम् - ६/३०

३ विक्रमोर्वशीयम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०३

४ मृच्छकटिकम् - ५/२१

५ मृच्छकटिकम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३२

६ न खलु देवराजो ममासनमारोहति ।- प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ८०

७ मृच्छकटिकम् - ५/२१

८ मध्यमव्यायोग - १/४७

९ बालचरितम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १४

१० पश्य पश्य भगवत्प्रसादान्निष्कम्पवीचिमन्तं सलिलाधिपतिम् - अभिज्ञानशाकुन्तलम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७९

११ तपोऽग्निर्हविषामरोत्तममुखम् - पञ्चरात्र, १/४

१२ चिरं मूले दग्धः परशुरिव रुद्रस्य पतति- पञ्चरात्र, १/१६

१३. सब्रह्मेन्द्रमरुद्गणं त्रिभुवनं सृष्टं त्वयैव प्रभो - अभिषेकनाटकम् ६/३०

१४ ऋग्वेद - ८/७/१६

यम भी एक वैदिक देवता था जो ऋग्वेद में मृतकों का राजा[१] बताया गया है। यही कालान्तर में मृत्यु का देवता माना जाने लगा।

ऋग्वेद का सूर्यदेव *विष्णु* आलोच्य युग में सर्वशक्तिमान, जगत् का नियन्ता और त्रिलोक का आदि कारण[२] माना जाने लगा। सुदर्शन-चक्र, शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, पांचजन्य शंख, नन्दक तलवार इसके आयुध थे।[३] इसका वाहन गरुड़ पक्षी माना जाता था।[४] इसके विषय में ऐसी पौराणिक मान्यता थी कि यह धर्म-संस्थापन के लिए पृथ्वी पर विविध अवतार ग्रहण करता है।[५]

ब्रह्मा विश्व का स्रष्टा था।[६] इसको 'प्रजापति'[७] संज्ञा से भी अभिहित किया जाता था।

शिव को हस्ति-चर्मधारी[८], सर्पों[९] से परिवेष्टित अर्द्धनारीश्वर[१०], योगसमाधि में लीन[११], जल, अग्नि, पुरोधा, चन्द्र, सूर्य, आकाश, वायु और पृथ्वी-इन अष्टमूर्तियों से

---

१ ऋग्वेद - १०/१४/१

२. नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय नारायणाय । अभिषेकनाटकम् चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७७

३ दूतवाक्य - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३७-४३

४ अये अयं भगवतो वाहनो गरुड़प्राप्तः - दूतवाक्य प्रथम अङ्क, पृष्ठ ४४

५ बालचरितम् - १/९

६ मध्यमव्यायोग - १/४३

७ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ५/१५

८ यः स्वयं कृत्तिवासाः - मालविकाग्निमित्रम् - १/१

९ पर्यंकग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो - मृच्छकटिकम्, १/१

१०. कान्तासंमिश्रदेहो - मालविकाग्निमित्रम्, १/१

११ शम्भोर्वः पातु शून्यक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः - मृच्छकटिकम् १/१

युक्त[१], पृथ्वी और आकाश में व्याप्त, वेदान्तियों का आदिपुरुष[२], आत्मभू[३], नीलकण्ठ[४] और गौरी से युक्त[५] माना गया है। पिनाक (धनुष) इनका वरायुध है।[६]

कुबेर धन का देवता माना गया है।[७] प्रतिमानाटकम् में इनका सङ्केत मिलता है।

स्कन्द शरवण से उत्पन्न[८] और शक्ति नामक अस्त्र को धारण करने वाला[९] कहलाता था।

कामदेव शृङ्गार - रस का देवता था।[१०] वसन्तोत्सव के अवसर पर इसकी आम्र-मंजरियों द्वारा पूजा की जाती थी।[११]

चन्द्र औषधियों का स्वामी माना जाता था।[१२]

नारद देवर्षि[१३] कहलाता था। यह वेदों में पारंगत, संगीत प्रेमी और वीणा के स्वर से लोक में कलह उत्पन्न करने वाला मान्य था।[१४]

---

१. **अभिज्ञानशाकुन्तलम् - १/१**

२ **विक्रमोर्वशीयम् - १/१**

३ **अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ७/३५**

४ **मृच्छकटिकम् - १/२**

५ **मृच्छकटिकम् - १/2**

६ **अभिज्ञानशाकुन्तलम् - १/६**

७ **प्रतिमानाटकम् - २/२**

८ **प्रतिमानाटकम् - २/२**

९ **शक्तिधरो यमः - मध्यमव्यायोग १/४३**

१०. **शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो - विक्रमोर्वशीयम् १/१०**

११ **सखि अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १०२**

१२ **अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४/२**

१३ **अये भगवान् देवर्षिनारदः - अविमारक षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १५८**

१४ **अविमारकम् - ६/११**

गृह- देवता, नगर-देवता और *वन-देवता-* ये सम्भवतः गृह, नगर और वन की रक्षा करने वाले देवता थे।

लक्ष्मी ऐश्वर्य एवं वैभव की अधिष्ठात्री देवी ही थी। यह विष्णु की अर्धांगिनी मानी जाती थी।[१]

कात्यायनी शुम्भ, निशुम्भ और महिषासुर का वध करने वाली मानी जाती थी।[२] कुण्डोदर सर्प, शंकुकर्ण शूल, नील और मनोजव दुराचारियों के विनाश के समय देवी की सहायता करते थे।[३]

सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री देवी थी। वह 'भारत'[४] अमिधा से भी विभूषित थी।

शची इन्द्र की पत्नी[५] कही जाती थी। शची अत्यन्त ओजस्विनी एवं तेजोमयी देवी थी। 'विक्रमोर्वशीयम्' में उर्वशी व्रतवेशधारिणी देवी औशीनरी को तेज में शची के समकक्ष बताती है।[६]

गौरी शिव की अर्धांगिनी स्वीकार की गयी है।[७]

---

१ अविमारकम् - २/३

२ बालचरितम् - २/२०

३ बालचरितम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ३८

४ अभिषेकनाटकम् - ६/३०

५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ७/२८

६ न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया। - विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १५८

७ मृच्छकटिकम् - १/२

अर्द्ध - देवता

देवताओं के अतिरिक्त इन रूपक भेदों में सिद्ध[१], विद्याधर[२], गन्धर्व[३], अप्सरा[४], और किंपुरुष[५] का नामोल्लेख भी हुआ है। इनको अर्द्ध-देवताओं की कोटि में प्रगणित किया गया है।[६]

धर्माचरण -

धर्माभ्यास के अन्तर्गत, व्रत-उपवास, देवार्चन, सन्ध्या-वन्दना, तपश्चर्या, तीर्थयात्रा, षोडश-संस्कार एवं अतिथि-सत्कार का समावेश किया जा सकता है।

यज्ञ

धार्मिक क्षेत्रों में यज्ञों का विशेष महत्त्व था। वह धर्माचरण का प्रमुख अंग था। इह-लोक में यश एवं अभ्युदय की वृद्धि के लिए यज्ञों का अभ्युदय किया जाता था। यज्ञरूप धर्मकृत्य से पृथ्वी पर ही स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है।[७]

यज्ञ के प्रारम्भ में यजमान का एक धार्मिक संस्कार होता था जो दीक्षा[८] कहलाता था। यज्ञान्त में अवभृथ[९] नाम की धार्मिक क्रिया होती थी जो यज्ञ की समाप्ति

---

१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२२

२ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२२

३ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२२

४ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२२

५ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२२

६ आयुष्मान् एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुष पर्वतस्तपः संसिद्धिक्षेत्रम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम्, अङ्क, पृष्ठ १३१

७ पञ्चरात्र - १/२३

८ नृपे दीक्षां प्राप्ते जगदसि समं रक्षितमिव - पञ्चरात्र - १/३

९ एहि एहि पुत्र एवमेवावभृथस्नानेषु खेदमवाप्नुहि - पञ्चरात्र, प्रथम अङ्क, पृष्ठ 21

की सूचना देती थी। अवभृथ स्नान तक अग्नि वेदी के बाहर नहीं निकाली जा सकती थी।[१] यज्ञ के अन्त में पुरोहितों और वेदज्ञ ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा प्रदान की जाती थी। 'पञ्चरात्र' में दुर्योधन के यज्ञ में प्राप्त प्रभूत दक्षिणाओं से ब्राह्मण परितुष्ट हो जाते हैं।[२]

यज्ञों में पशु-बलि का भी विधान था। 'मृच्छकटिकम्' में विदूषक फुरफुर करते हुए दीपक की तुलना यूपकाष्ठ से बांधने के लिए लाये गये बकरे से करता है।[३]

यज्ञों में अश्वमेध[४], राजसूय[५], विश्वजित्[६], नैमिषेय[७], शतकुम्भ[८] और अग्निष्टोम[९] का निरूपण हुआ है। अश्वमेध एक राजयज्ञ था और राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इसमें एक निश्चित अवधि के लिए मेध्याश्व छोड़ा जाता था। उसकी रक्षा के लिए बड़ी भारी सेना के साथ प्रायः राजपुत्र को सेनापति बना कर भेजा जाता था। यज्ञ-तुरग निर्द्वन्द्व विचरण करता था और उसके पीछे रक्षक सेना रहती थी जब कोई विपक्षी सेना अश्व को पकड़कर चुनौती देता तो रक्षक सेना उसकी रक्षा करती थी।

---

१ अनवसितेऽवभृथस्नाने न खलु तावदग्निरुत्स्त्रट्व्यो भवद्भिः। - पञ्चरात्र प्रथम अङ्क, पृष्ठ २१

२ तृप्ता द्विजेन्द्रा धने ।- पञ्चरात्र, १/४।

३ भो। प्रदोषमन्दमारुदेहेन पशुबन्धोपनीतस्यैव छागलस्य हृदयं फुरफुरायते प्रदीपः। - मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ६५।

४ मालविकाग्निमित्रम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५३

५. पञ्चरात्र - १/२८।

६ अयं खलु तावत् सन्निहितसर्वरत्नस्य विश्वजितो यज्ञस्य प्रवर्तयिता प्रज्वलितधर्मप्रदीपो दिलीप । प्रतिमानाटकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७९

७ नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या ।- विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चरात्र अङ्क, पृष्ठ २४३

८ मध्यमव्यायोग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ११

९ तेन ह्यग्निष्टोमफलं ददामि - कर्णभार, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २१

व्रत-उपवास

यहभी धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों, तिथि-विशेष पर और अभीष्ट सिद्धि के लिए व्रत, उपवास रखे जाते थे। *'पञ्चरात्र'* में दुर्योधन का शरीर यज्ञ के अवसर पर किये गये व्रतों से अत्यन्त कृश हो जाता है।[१] *'मृच्छकटिकम्'* में धूता तिथि-विशेष पर किया जाने वाला रत्नषष्ठीव्रत करती है।[२] *'विक्रमोर्वशीयम्'* में रानी औशीनरी रुष्ट प्रिय को प्रसन्न करने के लिए *'प्रियानुप्रसादन'*[३] व्रत करती है। इसी प्रकार *'चारुदत्त'* में नटी जन्मान्तर में भी, वर्तमान पति को ही पतिरूप में प्राप्त करने के लिए '*अभिरूपपति*'[४] नाम के व्रत की साधना करती है।

व्रत के अवसर पर मनोवांछित फल के लिए पूजन-सामग्री से देवपूजा की जाती थी। *'विक्रमोर्वशीयम्'* में रानी प्रिय को प्रसन्न करने के लिए चन्द्रदेव की अर्चना करती है।[५] व्रत के लिए व्रतधारी के सामाजिक स्तर के योग्य ब्राह्मण भोजन के लिए निमन्त्रित किया जाता था [६] और भोजन के पश्चात् उसे दक्षिणा प्रदान की जाती थी।[७] *'मृच्छकटिकम्'* में चारुदत्त नित्य नियमानुसार देवकार्य [८] सम्पन्न करता है।

सन्ध्या-वन्दन

प्रातःसायं सन्ध्यावन्दन और जप आदि वैदिक आर्यों की नित्य क्रियाएँ थीं। जिसका सङ्केत रूपक भेदों में भी मिलता है। *'मृच्छकटिकम्'* में चारुदत्त सन्ध्या-

---

१ क्रतुव्रतैस्ते तनुगात्रमेतत् - पञ्चरात्र, १/२९

२ मृच्छकटिकम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ १८४

३ भर्तुः प्रियानुप्रसादनं नाम - विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०४

४ चाारुदत्तम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ५

५. दारिकाः आनयतौपहारिकं यावन्मणिहर्म्यपृष्ठगतांश्चन्द्रपादानर्चामि - विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०४

६. अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन - मृच्छकटिकम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ १८

७ अपि च दक्षिणा कापि ते भविष्यति - मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १९

८. विक्रमोर्वशीयम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ 104

वन्दन[१] और गायत्री आदि मंत्रों के जप[२] को दैनिक जीवनचर्या का अंग मानता है। तपोऽनुष्ठान विशेषतः तपस्वियों की जीवनचर्या का अंग थी। कुछ तपस्वी तपोयोगी होकर समाधि में स्वयं को और निकटवर्ती संसार को पूर्णतः विस्मृत कर देते थे। मारीच ऋषि के आश्रम में कठोर तपस्या में निरत मुनि के चारों ओर चीटियों ने बिल बना लिये थे, वक्षस्थल पर सर्पत्वचा पड़ी हुई थी, गले में सूखी हुई लताएँ उलझी हुई थीं और जटाओं में चिड़ियों ने घोंसले बना लिये थे। तपस्वियों की अन्तःअवस्था का चित्रण *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* में मिलता है।[३]

तपःसाधना ऋषियों के लिए 'जीवनौषध' थी। ऋषियों के लिए उसमें व्यवधान असह्य था। '*अभिज्ञानशाकुन्तलम्*' में शकुन्तला की विदाई के समय भी महर्षि कण्व को तपोपरोध चिन्ता ही व्यथित करती है।[४] तपस्वियों के तपोमार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं के निवारण का उत्तरादायित्व राजा का होता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त कण्व-शिष्यों से मिलने पर सर्वप्रथम उनकी तपस्या की निर्बाधता के विषय में प्रश्न करता है।[५]

तीर्थ-यात्रा

धार्मिक दृष्टि से तीर्थ-यात्रा या तीर्थाटन का बड़ा महत्त्व था। तीर्थस्थान अत्यन्त पावन और पाप-नाशक समझे जाते थे। लोग विशेष तिथियों पर तीर्थों में स्नान करने जाते थे। 'विक्रमोर्वशीयम्' में राजा पुरुरवा तिथि-विशेष पर सपरिवार गंगा-यमुना के

---

१ अहमपि कृतशौच. संध्यामुपासे - मृच्छकटिकम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ १७९

२ समाप्तजपोऽस्मि - मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ५८

३ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ७/११

४ वत्से! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठाम् - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७७

५ अपि निर्विघ्नतपसो मुनय. । - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ 86

संगम में स्नान करने के लिए जाता है।[१] लोग तीर्थो में जाकर ग्रह -शान्ति भी कराते थे। महर्षि कण्व शकुन्तला की ग्रह-शान्ति के लिए सोमतीर्थ जाते है।[२]

संस्कार

धर्म-क्षेत्र में संस्कारों का भी विशिष्ट स्थान था। व्यक्ति अपने नाम के अनुरूप शरीर और आत्मा का शोधन एवं परिष्कार करते थे। पुर्नजन्म व्यवस्था में भी संस्कारों का योग समझा जाता था, इसलिए संस्कारयुक्त मनुष्य द्विज[३] कहलाता था। विविध रूपक भेदों में पुंसवन[४], जातकर्म[५], उपनयन[६], समावर्तन[७], विवाह[८] और अन्त्येष्टि[९] संस्कारों का विशेषता से निरूपण हुआ है। शुद्धि-संस्कारों में पुंसवन प्रथम था। यह गर्भाधान के तृतीय मास में सम्पन्न होता था। इसमें सारे दिन उपवास की हुई पत्नी को पति दही में एक यव की बाल और दो माष के दाने मिला कर तीन बार पीने को देता था और प्रत्येक बार उससे पूछता था- 'तुम क्या पी रही हो? तथा पत्नी प्रत्येक बार 'पुंसवने पुंसवने' कहती थी।[१०]

---

१ अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योगङ्गायमुनयोः संगमे देवीभिः सहकृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्या प्रविष्टि ।
- विक्रमोर्वशीयम् पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २३९

२ देवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गत. । अभि० श०

३ "जन्मना ब्राह्मणा ज्ञेयः, संस्कारैर्द्विजोच्यते" - कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति-गायत्री वर्मा, पृष्ठ ५४

४ निवृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२१

५ विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शकुन्तलेयः । - अभिज्ञानशाकुन्तलम, सप्तम् अङ्क, पृष्ठ १४७

६ तस्य पुत्रोपनयनार्थं सकलत्रोऽस्मि प्रस्थितः । - मध्यमव्यायोग, प्रथम अङ्क, पृष्ठ 28

७ कस्मातं त्व कृतसमावर्तो बटुक इव त्वरसे। अविमारक, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ११८

८ तच्चित्रफलकस्थयोर्वत्सराजवासदत्तयोर्विवाहोऽनुष्ठीयताम्। - प्रतिज्ञायौगन्धरायण, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १२९

९. हन्त स्वर्गं गतो वाली । सुग्रीव । क्रियतामस्य संस्कारः । अभिषेकनाटकम् अंक प्रथम, पृष्ठ 22

१० आश्वालायन गृह्यसूत्र - अध्याय १, १३/२, ७

'जात-कर्म' बालक के जन्म के पश्चात् सम्पन्न होने वाला प्रथम संस्कार था। पुत्रोत्पत्ति की सूचना प्राप्त करते ही पिता बालक का मुख देखता था और स्नानमार्जन के पश्चात् यथाविधि पितरों का श्राद्ध कर बच्चे को घी-मधु चटाता था।[१]

उपनयन-संस्कार यज्ञोपवीत-संस्कार भी कहलाता था। इस संस्कार के पश्चात् बालक यज्ञोपवीत धारण कर ब्रह्मचारी बन जाता था और विद्याध्ययन आरम्भ करता था। मानव धर्मशास्त्र के आदेशानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए उपनयन-संस्कार का समय क्रमशः आठ से सोलह, ग्यारह से बाईस और बारह से चौबीस वर्ष तक माना जाता था।

समावर्तन संस्कार विद्याध्ययन की समाप्ति पर मनाया जाता था। व्रतानुशीलन के पश्चात् गुरु की अनुमति से ब्रह्मचारी का घर लौट आना ही समावर्तन कहलाता था।

समार्वतन के पश्चात् *विवाह-संस्कार* का विशेष महत्त्व था। यह ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थाश्रम का मार्ग प्रशस्त करता था।

अन्त्येष्टि-संस्कार मृत्यु के उपरान्त किया जाता था। इसके अन्तर्गत समस्त मृतक क्रियाओं का समावेश होता है। मृतक के शव का स्पर्श अशौच माना जाता था। अशौच की शुद्धि के लिए यमुना आदि पवित्र नदियों के जल में स्नान करने की प्रथा थी।[२] पितरों की तृप्ति के लिए उदक-दान[३] और निर्वाप[४] की क्रियाएँ भी प्रचलित थीं। पितरों की स्मृति में सांवत्सरिक श्राद्ध किये जाते थे।[५] श्राद्ध-दिवस पर श्रद्धानुसार दान

---

१. कालिदास का भारत - भगवतशरण उपाध्याय, अङ्क 2, पृष्ठ 144

२ भर्तः, अशौचितोऽस्मि, मृता दारिका गृहीता। मुहूर्तक प्रतिपालयतु भर्ता यावद् यमुनाजलं गत्वा शौचं करोमि। - बालचरितम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ 16

३ जात । त्वमेव पर्यवस्थापय आत्मानं अस्माकं तिलोदकदानाय । मृच्छकटिकम्, दशम अङ्क, पृष्ठ ५९४

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ६/25

५ श्वस्तत्रभवतस्तातस्यानुसंवत्सरश्राद्धविधिः । प्रतिमानाटकम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ 129

दिया जाता था।[१] श्राद्ध के अवसर पर मनुष्यों के लिए घासों में कुश, औषधियों में तिल, शाकों में कलाय, मत्स्यों में महाशफर, पक्षियों में बाध्रीणम (काली गर्दन, लाल शिर वाला पक्षी) और पक्षियों में गाय या खड्ग का विधान था।[२] कांचनपार्श्व मृगों के मांस से पितरों का श्राद्ध करना उत्तम माना जाता था। इससे तृप्त पितृ पुत्र-लाभ का फल प्राप्त करते थे और स्वर्ग में देवों के साथ विमानों में निवास करते थे तथा आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर स्थिर हो जाते थे।[३]

कर्मवाद एवं पुनर्जन्म

धर्माचरण और धर्मनिष्ठा के गर्भ में अच्छे जन्म की कामना ही समाहित है। यह कामना मनुष्य को पापों से बचा कर सदाचरण करने की प्रेरणा देती है। वर्ण्य-युग में कर्मवाद और पुर्नजन्म में बहुत से लोगों का अटूट विश्वास था। जीव को मरणोपरान्त कर्मानुसार गति प्राप्त होती है- लोगों का यह विश्वास उन्हें सत्कर्म में प्रवृत्त कराता था। *'मृच्छकटिकम्'* में चेट अपने दासत्व का कारण पूर्वजन्म कृत पाप ही मानता है। इसी कारण वह इस जन्म में शकार के पुनः कहने पर भी वसन्तसेना-वध-रूप दुष्कृत्य नहीं करता है।[४] सम्भवतः परलोक कोई अलौकिक वस्तु न होकर, केवल पाप-पुण्य का परिणाम था।[५]

---

१ सर्व श्रद्धया दत्तं श्राद्धम्। प्रतिमानाटकम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ 135

२. प्रतिमानाटकम् - पञ्चमं् अङ्क, पृष्ठ १३५-३५

३ प्रतिमानाटकम् - 5/10

४ येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकं च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥ मृच्छकटिकम्, 8/25

५ शकार - कः स परलोकः ?
विट - सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः - मृच्छकटिकम्, अष्टम् अङ्क, पृष्ठ ४१५

नीति

नीति को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - एक सामान्य नीति और दूसरी राजनीति। सामान्य नीति में नैतिक और मानवोचित आचरण आता है और राजनीति में राजा और उसकी शासन-व्यवस्था से सम्बद्ध नीति का समावेश होता है।

सामान्य नीति

लोगों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। सदाचार या शिष्ट आचरण जीवन का आधार-स्तम्भ था। दीनदयालुता, विनम्रता, सज्जनों का सत्कार, सच्चरित्रता, परोपकार, सरलता, उदारता, शौर्य, धैर्य, मृदुभाषण आदि मानवीय गुण सदाचार के अंग थे। मानवीय गुणों से सम्पन्न व्यक्ति का जीवन ही वस्तुतः श्लाघ्य समझा जाता था।[१] 'मृच्छकटिकम्' में चारुदत्त आदर्श सद्गुणों का साकार रूप ही है।[२]

चरित्र

चरित्र-रक्षा तत्कालीन नागरिकों का परम धर्म था। मनुष्यों को चरित्र की रक्षा की अत्यधिक चिन्ता रहती थी। 'मृच्छकटिकम्' में चारुदत्त वसन्तसेना के सुवर्णभाण्ड के चोरी चले जाने पर इस आशंका से अत्यन्त दुःखित होता है कि सब लोग उसके चरित्र पर शंका करेंगे, वस्तु-स्थिति को कोई नहीं देखगा।[३] चरित्र निर्माण में उच्च कुल ही कारण होता था। अकुलीनों में समस्त मानवीय गुण विद्यमान होने पर भी उनका चरित्र निष्कलंक नहीं माना जाता था।[४]

---

१ मृच्छकटिकम् - १/४८

२. मृच्छकटिकम् - १/४८

३ यदि यावत् कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः ।
किमिदानीं नृशंसेन चरित्रमपि दूषितम्॥ मृच्छकटिकम्, 3/35

४. अविमारक - 2/5

सत्य

सत्य नैतिकता का मापदण्ड था। कठिन से कठिन विपत्ति में भी सत्य का परित्याग नहीं किया जाता था। असत्य-भाषण पाप माना जाता था। 'मृच्छकटिकम्' में वसन्तसेना के आभूषण चोरी हो जाने पर विदूषक कहता है कि मैं इसके विषय में असत्य प्रचार करूँगा, इस पर चारुदत्त उत्तर देता है कि मैं दरिद्र होने पर भी चरित्र को भ्रष्ट करने वाले असत्य का आश्रय नहीं लूँगा।[१]

दान शीलता

दान देने की प्रवृत्ति भी लौकिक और पारलौकिक कल्याण का साधन मानी जाती थी। याचक को अभिलषित वस्तु प्रदान करना ही दान का सर्वोच्च आदर्श था। 'कर्णभार' में कर्ण ब्राह्मण-रूपधारी इन्द्र को अपनी शरीर की रक्षा करने वाला कवच तक दान में देता है।[२] 'मृच्छकटिकम्' में चारुदत्त जैसा धनाढ्य व्यक्ति याचकों को अभीष्ट धन प्रदान करते-करते ग्रीष्मकाल के जलपूर्ण तालाब के समान मनुष्यों की प्यास बुझा कर स्वयं सूख जाता है।[३]

प्रतिज्ञा-पालन

प्रतिज्ञा-पालन नैतिक आचरण का मूल मन्त्र था। लोग प्राणोत्सर्ग द्वारा भी वचन का निर्वाह करते थे। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में यौगन्धरायण असह्य कष्टों को सहते हुए भी राजमाता के समक्ष की गयी स्वामी को मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा का पालन करता है।[४]

---

१ भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम् ।
अनृत नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् । मृच्छकटिकम् ३/२६

२ कर्णभार - १/२१

३. मृच्छकटिकम् - 1/46

४ यदि शत्रुबलग्रस्तो राहुणा चन्द्रमा इव ।
मोचयामि न राजनं नास्मि यौगन्धरायणः ॥ - प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् ए १/१६

न्यास-रक्षा

लोग न्यास (धरोहर) की सर्वात्मना रक्षा करते थे। 'मृच्छकटिकम्' में चारुदत्त वसन्तसेना के सुवर्णभाण्ड की रक्षा के लिए दिन में वर्धमानक और रात्रि में मैत्रेय को नियुक्त करता है।[१] साक्षियों की उपस्थिति में धरोहर लौटानी पड़ती थी। 'स्वप्रवासवदत्तम्' में रैम्य और धात्री की साक्षि में राजा वासवदत्ता रूप धरोहर लौटाने का परामर्श देता है।[२]

शरणागत-रक्षा

शरणागत की रक्षा करना मानव का प्राथमिक कर्त्तव्य था। शरणागत को, शत्रु होने पर भी अभय प्रदान किया जाता था। 'अभिषेकनाटकम्' में राम शरण में आये हुए विभीषण को, शत्रु का भ्राता होने पर भी, सत्कारपूर्वक प्रवेश कराने के लिए कहते हैं।[३]

अभिवादन

माता-पिता, गुरुजन, आचार्य आदि से मिलते समय प्रणाम या अभिवादन करना लौकिक शिष्टाचार माना जाता था। 'पञ्चरात्र' में उत्तर भगवान् कृष्ण[४] और पिता विराट[५] से मिलते समय उन्हें अभिवादन करता है। अज्ञानवश अभिवादन न करने पर क्षमा-याचना भी की जाती थी। अभिमन्यु अपने पूज्य अर्जुन आदि पितृजन को अज्ञानवश प्रणाम न करने के कारण अपने अपराध के लिए क्षमा मांगता है।[६]

---

१ मृच्छकटिकम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ९३

२ साक्षिकमन्यासो निर्यातयितव्यः।
इहात्रभवान् रैम्य. अत्रभवती चाधिकरणं भविष्यति। स्वपुनवासवदत्तम् षष्ठम् अङ्क पृष्ठ २२९

३ कथं विभीषण शरणागत इति । वत्स लक्ष्मण ! गच्छ, सत्कृत्य य प्रवेश्यता विभीषणं ।
अभिषेकनाटकम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७३

४ भगवन! अभिवादये । तात! अभिवादये । पञ्चरात्र, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १०१

५ वही - पृष्ठ १०१

६ अज्ञानस्तु मया पूर्वं यद् भवान् नाभिवादितः ।
तस्य पुत्रापराधस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।। पञ्चरात्र, २/६८

परिवार एवं समाज में बन्धुत्व की भावना विद्यमान थी। भाई-भाई के लिए, पिता पुत्र के लिए, पुत्र पिता के लिए, पत्नी पति के लिए, पति पत्नी के लिए, स्वामी सेवक के लिए, सेवक स्वामी के लिए, बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर रहता था। 'मध्यम व्यायोग' में ब्राह्मण और उसके परिवारजन का पारिवारिक स्नेह और त्याग-भावना धन्य है।[१] रुमण्वान् नामक मन्त्री अपने स्वामी उदयन के दुःख से अत्यन्त व्यथित होता है। वह राजा के न खाने पर स्वयं भी नहीं खाता और उसके साथ अहर्निश विलाप करता रहता है।[२]

कृतज्ञता

लोग दूसरों द्वारा किये गये उपकार को विस्मृत नहीं करते थे अपितु प्रत्युपकार करने का प्रयत्न करते थे। 'बालचरितम्' में नन्दकोष वसुदेव कृत उपकारों के प्रत्युपकार के लिए उसके पुत्र कृष्ण की रक्षा करने को उद्यत हो जाता है।[३]

परद्रव्य-दृष्टि

दूसरों का धन लोष्ठवत् समझा जाता था। मनुष्य परिहास में भी परद्रव्य का अपहरण करने से डरते थे। 'प्रतिमानाटकम्' में अवदातिका परिहास में नेपथ्य-रक्षिका रेवा के वल्कल उठा लाने के कारण अपने को धिक्कारती है और अपने कर्म को अनुचित कहती है।[४]

---

१ मध्यमव्यायोग,- प्रथम अङ्क, पृष्ठ १२-१८

२. स्वप्रवासवदत्तम् । प्रथम अङ्क पृष्ठ १२-१८

३ यद्यस्ति भवतः किंचिन्मया पूर्वकृतं भवेत् ।
तस्य प्रत्युपकारस्य कालस्ते समुपागतः ॥ बालचरितम्, १/२०

४. अहो अत्याहितम् । परिहासेनापीमं वल्कलमुपनयन्त्या ममैतावत् भयमासीत्, किं पुनर्लोभेन परधनं हरत. ।
- प्रतिमानाटकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ९

समाज में नैतिकता का स्तर उन्नत होते हुए भी अनीति एवं अधर्म का अभाव नहीं था। जनता में रिश्वत लेना, चोरी करना, मदिरापान, जुआ खेलना, वेश्यागमन आदि अनैतिक कृत्य निर्बाध रूप से प्रचलित थे।

रूपकों में नीति-विषयक सन्दर्भ

राजनीति

राजनीति के अन्तर्गत राजकीय शासन-व्यवस्था, न्याय एवं दण्डविधान[१], युद्ध एवं सैन्य-व्यवस्था, राजा की गृह एवं परराष्ट्र नीति आदि विषयों की विवेचना की गयी है।

राजनीति एवं शासन व्यवस्था

राजकीय-प्रशासन का मूल शान्ति और सुरक्षा में निहित था। राजा का राज-दण्ड शान्ति की व्यवस्था करता था। राजा विधानानुसार दुष्टों और अपराधियों को दण्ड देकर तथा प्रजा के पारस्परिक विवादों को शान्त कर[२] राज्य में शान्ति प्रबन्ध कर प्रजा को अनीति पर चलने एवं अधर्माचरण से बचाता था। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त की समुचित शासन-नीति के कारण ही प्रजा में निकृष्ट-से-निकृष्ट वर्ण भी कुमार्ग का अनुसरण नहीं करता है।[३]

मन्त्रि-परिषद

राजकीय शासन-प्रबन्ध की सम्यक् प्रगति के लिए राजा के पास अनेक प्रत्युत्पन्नमति मंत्री होते थे। इनकी एक परिषद् होती थी जो 'अमात्य-परिषद्'[४] या

---

१ नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५/८

२ प्रशमयसि विवादम् - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५/८

३ न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५/१०

४ मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि । विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २५२

'मंत्रि-परिषद'[१] कहलाती थी। राजा शासन से सम्बद्ध विषयों पर परिषद् से परामर्श करता था।[२] मंत्रि-परिषद विविध राजकीय विषयों पर नीति निर्धारित कर अन्तिम निर्णय के लिए राजा के पास भेजती थी।[३] राजा का निर्णय ही सर्वसम्मति से स्वीकार्य एवं मान्य होता था।[४]

न्याय-विधान

नागरिकों की समस्याओं और विवादों के प्रशमन तथा दुर्विनीतों को दण्ड देने के लिए राजकीय न्यायालय होते थे। अधिकरण-मण्डप के प्रधानाधिकारियों में न्यायाधीश, श्रेष्ठी और कायस्थ परिगणित थे।[५] ये तीनों अधिकारी मिलकर न्याय करते थे। न्यायाधीश राजा का वैतनिक सेवक होता था। उसे राजा इच्छानुसार हटा सकता था। 'मृच्छकटिकम्' में शकार अधिकरणिक को कहता है कि यदि मेरा अभियोग नहीं सुना गया तो राजा से कहकर तुम्हें निकलवा दूँगा।[६] न्यायाधीश आजकल के जज के समान होता था। न्यायालय में निष्पक्ष न्याय के निमित्त यह आवश्यक था कि न्यायधीश शास्त्रों का ज्ञाता, वादी-प्रतिवादी के कपट-व्यवहार को समझने में दक्ष,

---

१. तेन हि मंत्रिपरिषदं ब्रूहि । मालिविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३५२ ।

२ तदमात्यवर्गेण सह समन्त्रय गन्तव्यम् - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ८

३ अमात्यो विज्ञापयति - विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छन्ति । मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३५१

४ अमात्यो विज्ञापयति - कल्याणी देवस्य बुद्धिः मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम् । मालविकग्निमित्रम, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५२

५ (ततः प्रविशति श्रेष्ठिकायस्थादिपरिवृतोऽधिकरणिकः) - मृच्छकटिकम्, नवम् अङ्क, पृष्ठ ४५५

६ किं न दृश्यते मम व्यवहारः? यदि न दृश्यते, तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातर च विज्ञाप्य एतमधिकरणिकं दूरीकृत्य अत्र अन्यमधिकरिणकं स्थापयिष्यामि । - मृच्छकटिकम्, नवम अङ्क, पृष्ठ ४६१

वक्ता, क्रोध-रहित, मित्र, शत्रु और पुत्रादि स्वजन के लिए समद्रष्टा, दुर्बलों का पालक, शठों का शासक, धर्मलोभी, तत्त्वज्ञ तथा राजा के क्रोध का निवारक हो।[१] कायस्थ सम्भवत. न्यायालय का पेशकार होता था । वह कार्यार्थी का व्यवहार लिखता था।[२] न्यायालय में अधिकरणिक के समक्ष वादी तथा प्रतिवादी दोनों के बयान लिये जाते थे। साक्षियों की गवाहियाँ भी ली जाती थी। न्यायाधीश जिसे चाहे उसे व्यवहार के लिए बुलवा सकता था।[३] फाँसी आदि के जटिल अभियोग में न्यायाधीश का निर्णय अन्तिम स्वीकृति के लिए राजा के पास भेज दिया जाता था।[४] राजा को अधिकरणिक का निर्णय रद्द करने का पूर्ण अधिकार था। 'मृच्छकटिकम्' में राजा पालक न्यायाधीश द्वारा चारुदत्त के लिए निर्धारित किये गये राष्ट्र-निष्कासन दण्ड को भंग कर उसके लिए प्राणदण्ड की आज्ञा देता है।[५] राजा स्वयं भी धर्मासन पर बैठकर पौर कार्यों का निरीक्षण करता था और उचित निर्णय देता था।[६]

दण्ड-प्रणाली

दण्ड-विधान मानव धर्म पर आधारित था। न्यायाधीश मनु निर्दिष्ट दण्ड-नियमों के अनुसार ही दण्ड का विधान करते थे।[७] अपराधी के लिए दण्ड के नियमों की

---

१ मृच्छकटिकम् - ९/५

२ यदार्य आज्ञापयति। आर्य। लिखितम्। मृच्छकटिकम् नवम अङ्क, पृष्ठ 466

३ भद्र शोधनक! वसन्तसेनामतरमनुद्वेजयन्नाह्वाय । मृच्छकटिकम्, नवम अङ्क, पृष्ठ ४६८

४ आर्य चारुदत्त। निर्णये वयं प्रमाणम्, शेषे तु राजा । मृच्छकटिकम्, नवम अङ्क, पृष्ठ 515

५ मृच्छकटिकम् - नवम् अङ्क, पृष्ठ ५१६

६. वेत्रवति मद्वचनादमात्यपिशुने ब्रूहि। चिरप्रबोधन्न संभावितमस्याभिरथ धर्मासनमध्यासितुम। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १०७

७ अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत् । मृच्छकटिकम्, ९/३९

धाराएँ अत्यन्त कठोर थीं। अपराधी को कठोर से कठोर सजा दी जाती थी। दण्ड-विधान के अनुसार रत्नों की चोरी के अपराध का दण्ड मृत्यु था।[१] हत्या के अपराधी के लिए भी प्राणदण्डनियत था। 'मृच्छकटिकम्' में शकार न्यायाधीश से चारुदत्त को प्राण-दण्ड से दण्डित करने के लिए कहता है।[२] ब्राह्मण के लिए हत्या का अपराध करने पर भी प्राण-दण्ड वर्जित था। उसे अक्षत-विभव सहित राष्ट्र से निष्कासित कर दिया जाता था।[३]

मृत्यु-दण्ड से दण्डित व्यक्ति को शूली पर चढ़ाना[४], कुत्तों से नुचवाना[५], रस्सी से बाँध कर मरवाना[६] और आरे से चिरवाना[७], गृध्र-बलि बना कर मरवाना[८] आदि प्राणापहारक दण्ड-विधियाँ प्रचलित थीं।

वध्य पुरुष को वध से पूर्व करवीर पुष्पों की माला पहनायी जाती थी।[९] उसके सम्पूर्ण शरीर पर लाल चन्दन के थापे मारे जाते थे और तिल, तण्डुल आदि के पिष्ट चूर्ण का अवलेपन किया जाता था।[१०] प्राण-दण्ड देने का कार्य चाण्डाल करते थे। वे

---

१ एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम अङ्क, पृष्ठ १००

२ शृणुत् शृणुत् भट्टारकाः । एतेन मारिता, एतेनैव संशयश्छिन्नः । एतस्य दरिद्र चारुदत्तस्य शरीरो दण्डो धार्यताम्। - मृच्छकटिकम्, नवम अङ्क, पृष्ठ ५१३

३ मृच्छकटिकम् - ९/३९

४ मृच्छकटिकम् - १०/५४

५ मृच्छकटिकम् - १०/५४

६ मृच्छकटिकम् - १०/५४

७ मृच्छकटिकम् - १०/५४

८ गृध्रबलिर्भविष्यसि । - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम अङ्क, पृष्ठ ९९

९ मृच्छकटिकम् - १०/२

१० मृच्छकटिकम् - १०/५

अपराधी को वध्य-पटह बजाते हुए श्मशान तक ले जाते थे। वे मार्ग में घोषणा-स्थलों पर अपराधी के परिचय के साथ उसके अपराध एवं दण्ड की घोषणा करते जाते थे और दूसरे व्यक्तियों को वैसा अपराध न करने के लिए सावधान करते जाते थे।[१]

वध्य पुरुष कभी-कभी भाग्यवश मुक्त भी कर दिये जाते थे। कभी कोई साधुजन धन देकर वध्य पुरुष को छुड़ा लेता था, कभी राजपुत्र के जन्म के उपलक्ष्य में अपराधियों को मुक्त कर दिया जाता था, कभी हाथी बन्धन-स्तम्भ तोड़ कर भाग जाता था जिससे घबराहट में वध्य जन मुक्त हो जाता और कभी राज्य-परिवर्तन के कारण वध्य व्यक्तियों को मुक्ति प्रदान कर दी जाती थी।[२]

केश पकड़ कर पैरों से मारने के अपराध में अपराधी को न्यायालय की ओर से चतुरंग दण्ड-मस्तक-मुण्डन, कशाघात, धन-हरण और बहिष्करण से दण्डित किया जाता था।[३] अपराधी के अभियोग-निर्णय के लिए विष-पान, सलिल-प्रवेश, तुलारोहण, अग्नि-प्रवेश आदि परीक्षाएँ भी प्रचलित थीं।[४]

साम्राज्य रक्षा

साम्राज्य रक्षा के लिए राजा सचेत रहते थे। साम्राज्य सुदृढ़ता एवं स्थिरता के लिए राजा की ओर से राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा की व्यवस्था की जाती थी। सुरक्षा के साधनों में सेना, नगर-रक्षक, गुप्तचर, प्राकार एवं दुर्ग प्रमुख थे।

---

१ यथा च एष उद्गीतो डिण्मिशब्दः पटहानां व श्रूयते, तथा तर्कयामि दरिद्रचारुदत्त वध्यस्थाने नीयत इति ।
 - मृच्छकटिकम् दशम् अङ्क, पृष्ठ ५४६

२ मृच्छकटिकम्, दशम अङ्क, पृष्ठ ५५९

३. अहं त्वया विश्वस्तो राज्ञासिं कुर्वन् सहसाकेशेषु गृहीत्वा पादेन ताडितः । तत् शृणु रे। अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरंग न कल्पयामि, प्रदान भवामि वीरकः । मृच्छकटिकम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ ३५३

४. मृच्छकटिकम् - ९/४३

सेना-व्यवस्था

देशी-विदेशी शत्रुओं से राज्य की रक्षा के लिए राजा के पास अक्षौहिणी सेना होती थी। राजा अपनी विशाल सेना के बल पर शत्रुओं को पराभूत करने का गर्व करता था।[१] 'स्वप्नवासवदत्तम्' में राजा प्रद्योत सेना के विस्तार के कारण ही महासेन कहलाता है।[२] राजा की विजय-प्राप्ति का आधार विशाल वाहिनी ही नहीं थी अपितु सैनिकों की राजा के प्रति अनन्य निष्ठा एवं भक्ति भी थीं। राज-भक्ति से विरहित सेना स्त्री के समान थी।[३]

सेना चतुरंगिणी होती थी। उसके गज-सेना, अश्व-सेना, रथी और पदाति-ये चार अंग थे।[४] गज भारतीय सेना के मुख्य स्तम्भ थे और सम्भवतः राज्याधिकारियों द्वारा सुरक्षित वनों से पकड़ कर लाये जाते थे। कतिपय वन तो हस्तियों के प्राचुर्य के कारण 'नागवन'[५] ही कहलाने लगे थे। अश्व भी गज के समान ही उपयोगी थे। कम्बोज[६] देश के द्रुतगामी अश्व युद्ध की दृष्टि से उत्कृष्ट समझे जाते थे। अश्व-सेना 'अश्वारोहणीय'[७] कहलाती थी। रथ भी समर-साधन के रूप में प्रयुक्त होते थे।[८] सेना में पदाति सैनिकों

---

१ अस्ति ममैकादशाक्षौहिणीबलसमुदयः। दूतवाक्य, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ६

२ अस्ति उज्जयिन्यां राजा प्रद्योतनामतस्य बलपरिमाणनिर्वृतं नामधेयं महासेनः इति। - स्वप्नवासवदत्तम् द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ७०

३ व्यक्तं बलं बहु च तस्य न चैककार्यं संख्यातवीरपुरुषं च न चानुरक्तम्।
व्याज ततः समभिनन्दति युद्धकाले सर्वं हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम्॥ - प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, १/४

४. तथा हस्त्यश्वरथपदातीनि मामकानि विजयांगनि सन्नद्धनि। - स्वप्नवासवदत्तम, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ १७०

५ अथ वेणुवनाश्रितेषु गहनेषु नागवनं श्वःप्रयाता स्वामी प्रागेव सम्भावयितव्यः। - प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ७

६ मान्यकाम्बोजजातम्। - कर्णभार, १/१९

७ प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १३

८ रथमानय शीघम् मे श्लाघ्यः प्राप्तो रणातिथिः।
तोषयिष्ये शरैर्भीष्मं जेष्यामीत्यमनोरथः॥ - पञ्चरात्र, २/१३

की संख्या सबसे अधिक होती थी। रूपक भेद में 'नौका'[१] के उल्लेख से जल-सैन्य का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पार्ष्णी भी सेना का एक प्रकार था।[२] सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण सेना को छोटे-छोटे समूहों में विभक्त कर दिया जाता था और सैनिकों की गणना के लिए एक पुस्तक या सूची बना ली जाती थी।[३] सेना का अधिपति सेनापति[४] या बलाध्यक्ष[५] कहलाता था। वह सैनिकों की नियुक्ति करता था और समर अभियान के लिए सेना को तैयार करता था।[६]

युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने वाले योद्धाओं को सैनिक-सम्मान प्रदान किया जाता था। उनके रण-कौशलादि वीर-कृत्य पुस्तक में अंकित किये जाते थे।[७] युद्ध में आहत वीरों की वेदना के निवारणार्थ उनको समुचित सम्मान एवं पुरस्कार प्रदान किया जाता था।[८]

सैन्य-सज्जा

सैनिक वेशभूषा या 'समरपरिच्छद'[९] सैन्य-सज्जा का प्रमुख अंग था। वर्म[१०]

---

१ **नौव्यसने विपन्नः।** - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम अङ्क, पृष्ठ १२१

२. **स्वप्नवासवदत्तम्** - ५/१२

३ **क्रमान्निवेश्यमानासु सेनासु वन्दिपरिग्रहेषु परीक्ष्यमाणेषु पुस्तकप्रामाणात् ।**
कुताश्चिदप्यविज्ञायमानौ द्वौ वनौकसौ गृहीतौ। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ८२

४ **मृच्छकटिकम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ ३४३**

५ **अभिज्ञानशाकुन्तलम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६७**

६ **भो भो बलाध्यक्ष। सन्नाहमाज्ञापय वानरवाहिनीम् ।** अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६७

७ **दृष्टपरिस्पन्दानां योधपुरुषाणां कर्माणि पुस्तकमारोपयति कुमारः ।** पञ्चरात्र, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ६७

८ **ताडितस्य हि योधस्य श्लाघनीयेन कर्मणा ।**
अकालान्तरिता पूजा नाशयत्येव वेदनाम् ॥ पञ्चरात्र, २/२८

९. कर्णभार - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ४

१० पञ्चरात्र - २/२

(कवच), गोधा[1] (ज्याघातावरण), अंगुलित्राण[2], छत्र[3], और शस्त्रास्य समरवेश में समाविष्ट थे। शस्त्रास्त्रों में धनुष-बाण[4], तलवार[5], चर्म[6] (ढाल), तोमर[7], कुन्त[8], शक्ति[9], प्रास[10], परशु[11], भिण्डिपाल[12], शूल[13], मूसल[14], मुद्गर[15], वराहकर्ण[16], कणप[17], कर्पण[18], शंकु[19], त्रसिगदा[20], कुलिश[21] आदि का निरूपण हुआ है।

सैन्य-सज्जा में ध्वजाएँ और रण-वाद्य भी समाविष्ट थे। ध्वजाएँ[22] पताकाएँ[23]

---

१ पञ्चरात्र - २/२

२ पञ्चरात्र - २/२

३ पञ्चरात्र - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ५५

४ एतद्धस्तावापसहितं शरासनम् - विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २४१

५ निशितविमलखड्गः। - प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, ४/३

६ कनकरचितचर्व्यग्रवामाग्रहस्तः। - प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, ४/३

७ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

८ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

९ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१०. ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

११. ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१२ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१३ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१४ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१५ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१६ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१७. ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१८ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

१९ ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

२० ऊरुभंग - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

२१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ७/२६

२२ पञ्चरात्र - ३/१८

२३ पञ्चरात्र - २/११

राज-चिन्ह और सैनिक-चिह्न के रूप में प्रयुक्त होती थी। राजाओं और सेनानायकों का अपना-अपना विशिष्ट ध्वज-चिह्न होता था। 'विक्रमोर्वशीयम्' में राजा पुरुरवा का रथ-ध्वज हरिण से अंकित है।[१] 'कर्णभार' में दुर्योधन की रथ-पताका का चिह्न हाथी है।[२] युद्ध में पताका सबसे आगे फहराती हुई चलती थी।[३] शत्रु-पक्ष द्वारा ध्वजा का विद्ध होना पराजय का लक्षण माना जाता था और उसके लिए शान्ति-कर्म किया जाता था।[४]

सेना का प्रयाण तथा युद्ध की प्रगति रणवाद्यों की सहकारिता में होती थी। युद्ध के आरम्भ और अवसान की सूचना के लिए सामरिक वाद्य-यन्त्र, बजाये जाते थे। रणवाद्यों में शंख[५], दुन्दुभि[६], पटह[७], भेरी और तूर्य[८] का सङ्केत मिलता है।

नगर-रक्षक

राज्य की आन्तरिक सुव्यवस्था एवं शान्ति के लिए नगर की सुरक्षा अनिवार्य थी। पुरवासियों के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए राजा की ओर से अनेक नगर-रक्षक[९] एवं प्रहरी[१०] नियुक्त थे। नगर-रक्षकों को आधुनिक पुलिस-कर्मचारियों का ही

---

१ एषोल्लसित हरिणकेतस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तों रथौदृश्यते। - विक्रमोर्वशीयम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १५७

२ कर्णभार - १/३

३ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - १/३२

४ पञ्चरात्र - ३/१८

५ शंखदुन्दुभयश्च नि.शब्दाः। कर्णभार, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १२

६ शंखदुन्दुभयश्च निःशब्दाः। कर्णभार, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १२

७ सेनानिनादपटहस्वनशंखनादै! दूतवाकयम्, १/५

८ [illegible] - ४/१२

९. पद शब्द इव । मा नाम रक्षिणः । मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १७१

१० रे दौवारिकाः! अप्रमत्ताः स्वकेषु स्वकेषु गल्मस्थानेषु भवत । मृच्छकटिकम्, षष्ठम अङ्क, पृष्ठ ३२७

एक रूप माना जा सकता है। ये रक्षक-गण चोर, डाकू या अन्य अपराधी को राजा के समक्ष उपस्थित करते थे और उसे अपराध की लघुता-गुरुता के अनुकूल दण्ड दिलवाते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में रक्षक-गण धीवर को राजा की अँगूठी चुराने के अपराध के कारण राजा के समक्ष ले जाते हैं।[१] नगर-रक्षकों का अधिपति 'नागरिक'[२] कहलाता है। 'नागरिक' का अधिकार प्रायः राजश्यालक को प्राप्त होता था।[३] नागरिक के अतिरिक्त प्रधान रक्षाधिकारियों में 'तन्त्रिल सेनापति'[४] और 'बलपति'[५] का उल्लेख भी मिलता है। नगर में अव्यवस्था या षड्यन्त्र का सन्देह होने पर समस्त रक्षाधिकारियों और प्रहरियों को सावधान कर दिया जाता था।[६] मार्ग में आने जाने वाले पथिकों और गाड़ियों[७] की तलाशी ली जाती थी।[८]

चर

इनके अलावा राज्य में चर होते थे। ये भी राज्य की सुरक्षा में उपादेय थे। इनको दूत और गुप्तचर, इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। दूत राजकीय सन्देश-वाहक का कार्य करते थे। ये एक राजा का सन्देश दूसरे राजा के पास ले जाते थे और दो राजाओं में परस्पर सन्धि करवाने का प्रयत्न करते थे। 'दूतघटोत्कच' में

---

१. अंगुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छामः। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ ९८

२ ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ ९७

३ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम अङ्क, पृष्ठ ९७

४ मृच्छकटिकम् - षष्ठम अङ्क, पृष्ठ ३४३

५ वही - षष्ठम अङ्क, पृष्ठ ३४३

६ रे दौवारिका ! अप्रमता· स्वकेषु स्वकेषु-गुल्मस्थानेषु भवत। मृच्छकटिकम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ ३२७

७ अरे पुरस्तात् प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वं, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमपि उत्तरे। मृच्छकटिकम्, षष्ठम अङ्क, पृष्ठ ३३४

८ मृच्छकटिकम् - ६/१२

घटोत्कच, 'दूतवाक्य' में भगवान् कृष्ण, इसी वर्ग के चर है। दूत अवध्य होते थे। दूतों का वध किसी भी परिस्थिति में नहीं किया जाता था। 'दूतघटोत्कच' में दुर्योधन घटोत्कच के कठोर वचन कहने पर भी दूत होने के कारण उसका वध नहीं करता है।[१]

गुप्तचर छद्म वेश में रहकर शत्रु-पक्ष के रहस्यों का उद्घाटन करते थे तथा गुप्त सूचनाएँ देने का कार्य करते थे। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में यौगन्धरायण, वसन्तक तथा रुमण्वान् क्रमशः उन्मत्तक, डिण्डिक और श्रमणक का वेश धारण का शत्रु के नगर मे रहते हैं और शत्रु के गुप्त वृत्तान्तों को ज्ञात कर राजा उदयन को बन्धन से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करते हैं।[२]

प्राकार एवं दुर्ग

शत्रुओं के आक्रमण से नगर एवं राज्य की रक्षा के लिए प्राकार एवं दुर्ग का निर्माण किया जाता था। नगर की सुरक्षा की दृष्टि से उसके चारों ओर एक सशक्त एवं सुदृढ़ दीवार बनायी जाती थी जिसे 'प्राकार' कहा जाता था। इस दीवार पर नगर के निरीक्षण एवं अवेक्षण के लिए उपयुक्त स्थल निर्मित होते थे।[३] प्राकार में से ही नगर-प्रवेश के लिए चारों दिशाओं में चार मुख्य द्वारा बनाये जाते थे जो 'प्रतोली-द्वार'[४] कहलाते थे। नगर-द्वारों पर सुदृढ़ अर्गला लगायी जाती थी।[५]

---

१ दूतः खलु भवान् प्राप्तो न त्वं युद्धार्थमागतः ।
गृहीत्वा गच्छ सन्देशं न वयं दूत घातकाः ॥ दूतघटोत्कच, १/४८

२ प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - तृतीय अङ्क, (सम्पूर्ण)

३ योऽपि एष प्राकारखण्डः, एतमधिरुह्य चन्दनेन समं गत्वा अवलोकयामि। मृच्छकटिकम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ ३३४

४ अरे। पुरस्तात् प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वं, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमपि उत्तरे। मृच्छकटिकम्, षष्ठम्, अङ्क, पृष्ठ ३३४

५ नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २/१५

राज्य-सीमा की सुरक्षा के लिए सीमा-प्रान्तों पर अन्त:पाल दुर्गो का निर्माण किया जाता था। दुर्ग का व्यवस्थाधिकारी 'अन्त:पाल' संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।[१]

युद्ध

युद्ध क्षत्रियों के लिए उत्सव स्वरूप[२] था। जिस प्रकार उत्सवों एवं समारोहो में मनुष्य आनन्द प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार युद्ध के अवसर पर क्षत्रियों का रोम-रोम तरंगित हो उठता था। युद्ध में मरने से स्वर्ग-प्राप्ति और विजय प्राप्त करने से कीर्ति-लाभ का होना, ऐसा विश्वास था, अत: युद्ध निष्फल नहीं माना जाता था।[३] युद्ध को प्रतिरोध का माध्यम, वीरता की कसौटी अभिनय का शील, शौर्य की नींव, वीरों की उचित शयन-भूमि, प्राणों का यज्ञ और क्षत्रियों का स्वर्ग निवारण माना जाता था[४] तथा युद्ध एवं राजनीतिक संघर्षों के निवारण के लिए शत्रु राजाओं में पारस्परिक सन्धि आवश्यक थी। सन्धि में कुछ शर्ते रखीं जाती थी, जो दोनों पक्षों को स्वीकार करनी पड़ती थी। मालविकाग्निमित्रम् में राजा वैदर्भ अग्निमित्र से सन्धि स्थापित करने के लिए अग्निमित्र के पास पत्र में सन्धि की शर्ते लिखकर भेजता है।[५]

---

१ **अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तः पाल दुर्गे स्थापित.** । - मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २६६

२ **किं न खलु युद्धोत्सवप्रमुखस्य दृष्टपराक्रम स्याभूतपूर्वो हृदयपरितापः** । कर्णभार, प्रथम अङ्क, पृष्ठ 4

३ **हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तुलयते यशः ।**
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे। कर्णभार, १/१२

४ **वैरस्यायतनं बलस्य निकषं मानप्रतिष्ठागृहं,**
युद्धेष्पसरसा स्वयवरसभां शौर्यप्रतिष्ठां नृणाम्।
राज्ञां पश्चिमकालवीरशयनं प्राणाग्निहोमक्रतु,
संप्राप्ता रणसंज्ञमाश्रमपदं राज्ञां नभः संक्रमम् ॥ ऊरुभंग, १/४

५ मालविकाग्निमित्रम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २६७

पञ्चम अध्याय

रूपकों में सामान्य जन-जीवन के विभिन्न रूप

भोजन तथा आवास

किसी भी देश अथवा समाज का खान-पान इत्यादि भी उस देश की संस्कृति पर प्रकाश डालता है।

विवेच्य युग में अन्न का प्राचुर्य था, और स्वादिष्ट भोजन सामग्रियों का अभाव नहीं था। गृहिणियां भिन्न-भिन्न प्रकार का भोजन बनाने में निपुण होती थी। चारुदत्त[१]नाटक में नटी अपने व्रत के अवसर पर ब्राह्मण भोजन के लिये स्वादिष्ठ व्यंजनों का निर्माण करती है, इसी प्रकार मृच्छकटिकम्[२] में विदूषक वसन्तसेना के प्रासाद के पञ्चम प्रकोष्ठ में प्रवेश कर पाकशास्त्रियों द्वारा बनाये गये नाना प्रकार के आहार की सुगन्ध से उन्मत्त सा हो जाता है।

समाज़ में तब निरामिष और सामिष दोनों प्रकार का भोजन प्रचलित था। निरामिष भोजन में अन्न, दाल, शाक, दूध आदि का समावेश किया गया है तथा सामिष भोजन में मांस के साथ मदिरा-पान का भी निरूपण हुआ था।

निरामिष भोजन

इसमें अन्न या अनाज प्रमुख खाद्य है। रूपकों में यव[३], तण्डुल[४], तिल[५], नीवार[६] और श्यामाक[७] इन पाँच खाद्यान्नों का उल्लेख हुआ है।

---

१. चारुदत्तम्- प्रथम अङ्क, पृष्ठ २-८

२. अधिकमुत्सुकायेत मां साध्यमानबहुविधभक्ष्यभोजनगन्धः - मृच्छकटिकम्, चतुर्थ, अङ्क, पृष्ठ २३७

३ तास्वेव पूर्व बलिरुढ़यवाङ्कुरासु। चारुदत्तम्, १/२

४ चारुदत्तम्- प्रथम अङ्क, पृष्ठ ४

५ अन्यथाऽवश्यं सिंचत मे तिलोदकम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४६

६ अभिज्ञानशाकुन्तलम्- १/१४

७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - १/१४

यव प्रमुख अन्न नहीं था। इसका प्रसङ्ग देवताओं के पूजन में मिलता है।[१] *तण्डुल* या चावल जनता का लोकप्रिय आहार था। शालि[२] और कलम[३]उसके ही प्रकार विशेष थे। चावल के विविध व्यंजन बनाये जाते थे। चावल को उबालकर उसका भात के रूप में प्रयोग किया जाता था।[४] गुड़ के साथ मिला हुआ चावल गुडौदन[५] कहलाता था तथा खाने में पायस का चलन था। जो दूध में चीनी और चावल डालकर पकाया जाता था।[६]

तिल का खाद्य रूप में प्रयोग नहीं होता था। मृत्यु के पश्चात् श्राद्धादि के अवसर पर मृतक एवं पितृतृप्ति के लिये तिलोदक अर्पित करने की प्रथा थी।[७] नीवार[८] और श्यामाक[९] वन धान्य थे। ये वनों में उत्पन्न होते थे अतः अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तपोवन के वर्णन में इनका उल्लेख आया है।

तिल, धान आदि अन्न के अलावा दाल एवं शाक का विशिष्ट स्थान था। नाटकों में माष[१०] और कुलुत्थ[११] (कुलथी) जैसी दालों का उल्लेख हुआ है। शाक के

---

१ चारुदत्तम् - १/२

२ भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन। मृच्छकटिकम् १०/२९।

३ सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा वलिं सुधासवर्णतया। मृच्छकटिकम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २३२

४ चारुदत्तम् - १/१

५ मृच्छकटिकम् - १०/२९

६ अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं भुङ्क्ते। - बालचरितम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २२

७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४६

८. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ३५

९. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४/१४।

१०. बलीयसि खल्वन्धकारे माषराशि प्रविष्टेव। मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ५४

११ तस्यां त्वं पुष्करिण्या पुराण कुलुत्थयूषशबलानि उग्रगन्धीनिवचीवराणि प्रक्षालयसि। मृच्छकटिकम्, अष्टम अङ्क, पृष्ठ ३७९।

अन्तर्गत रक्त मूलक[१] (मूली) पनस[२] (कटहल) और कलाय[३] के नाम आते हैं। साग सूखे[४] और रसेदार दोनों प्रकार के बनाये जाते थे।

भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए मसालों का प्रयोग मिलता था। रूपकों में मसाले के लिए *वर्णक*[५] शब्द मिलता है। मसालों में नमक[६], मिर्च[७], हींग[८], जीरा[९], नागरमोथा[१०], वच[११] और सोंठ[१२] प्रमुख थे। भोजन में अम्ल रस या खटाई भी डाली जाती थी।[१३] इसका भी प्रसङ्ग मृच्छकटिकम् में मिलता है। भोजन के पश्चात् कर्पूरादि से सुवासित ताम्बूल का भी प्रयोग होता था।[१४]

मसालों के ही समान तेल भी भोजन का स्वाद बढ़ाता था। यह खाद्य पदार्थ को बनाने में तथा दीपक आदि जलाने में प्रयुक्त होता था।[१५] आहार में स्वाद परिवर्तन के

---

१. **आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि।** मृच्छकटिकम्, अष्टम अङ्क, पृष्ठ ३७६

२. **मृच्छकटिकम् - ८/८**

३. **कलायंशाकेषु।** प्रतिमानाटकम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३

४. **मृच्छकटिकम् - १/५१**

५. **एका वर्णकं पिनष्टि।** मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १२

६. **घृतमरिचलवणरूषितो।** प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १०४

७. **उपरोक्त।**

८. **मृच्छकटिकम् - ८/१४**

९. **मृच्छकटिकम् - ८/१३**

१०. **मृच्छकटिकम् - ८/१३**

११. **उपरोक्त।**

१२ **उपरोक्त।**

१३. **मांसेन तिक्ताम्लेन भुक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन।** मृच्छकटिकम्, १०/२९

१४. **दीयते गणिकाकामुकयः सकर्पूरं ताम्बूलम्।** मृच्छकटिकम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २४०

१५. **विक्षोभ्यमाणजनिततरङ्गतैलपूर्णभाजनम् ।** चारुदत्तम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३८

लिये मसालेदार वस्तुओं के अलावा मीठे पदार्थों भी उल्लेख मिलता है। इसमें मधु[१], गुड़[२], खांड[३] और मत्स्यण्डिका[४] उल्लेखनीय है।

मिष्टान्न में मोदक का विशेष स्थान था। यह केवल खाद्य पदार्थ ही नही था अपितु देवपूजन में भी इसका प्रयोग था। विक्रमोर्वशीयम् में रानी औशीनरी निपुणिका से देव प्रसाद रूप मोदकों को माणवक को देने के लिये कहती हैं।[५]

रूपक भेदों में निरामिष भोजन के अलावा, सामिष का भी सङ्केत मिलता है। समाज में मांस भोज्य वस्तु थी और मांसाहार अनैतिक नहीं माना जाता था। ब्राह्मण तक मांस का सेवन करते थे। विक्रमोर्वशीयम्[६] में विदूषक ब्राह्मण होकर हरिणी का मांस खाने की इच्छा प्रकट करता है। क्षत्रिय राजाओं का मृगया प्रेम भी उनकी मांसाभिरुचि को द्योतित करता है। राजा दुष्यन्त इसके प्रमाण हैं।[७]

नर मांस खाने की प्रवृत्ति केवल राक्षसों में प्रचलित थी। मध्यम व्यायोग[८] में घटोत्कच ब्राह्मण के तीन पुत्रों में से एक को अपनी माता के व्रत-पारणार्थ ले जाना चाहता है। मांस भक्षण की अनेक विधियां प्रचलित थी। यह अग्नि में भूनकर[९] अथवा

---

१. बालचरितम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४१

२. प्रसारितगुडमधुरसङ्कुल इव। अविमारकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ४६

३. एष खलु खण्डमोदकसश्रीक। विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १९७

४. हंजे लम्भय। विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०५

५. हंजे निपुणिके एतानौपहारिकमोदकानार्यमाणवकं लम्भय। विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०५

६. अहमपि प्रार्थ्यमानो यदा मिष्टहारिणीमांसभोजनं न लभे तदैतत्संकीर्तयन्नाश्वासयाभ्यात्मानम्। विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०१

७. एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २६

८. पुरुषादस्य दत्त्वाहं कथं निवृतिप्युनाम्। मध्यमव्यायोग, १/१३

९. अंगारराशिपतितमिव मांसखण्डम्। मृच्छकटिकम्, १/१८।

तेलमसालों में तलकर[१] उपयोग में लाया जाता था। आखेट आदि में जहाँ मांस पकाने का कोई साधन उपलब्ध नहीं होता था, वहाँ शूल्य मांस का उपयोग किया जाता था।[२]

सामिष भोजन के पश्चात् मदिरा का द्वितीय स्थान था। समाज में सभी वर्ग के लोग मद्य-पान करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[३] में नागरिक तथा नगर-रक्षकों के मध्य मद्य-पान का उल्लेख़ मिलता है। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्[४] में राजभृत्य गात्रसेवक मदिरा से उन्मत्त होकर जपापुष्प के समान रक्त लोचन दिखायी देता है।[५] पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियां भी मदिरा पान्र का आनन्द लेती थीं, मद्य अबलाजन का विशेष मण्डन माना जाता था।[६] सुरा-पान का सर्वाधिक प्रचलन गणिका समाज में था। मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना के षष्ठ प्रकोष्ठ में वेश्या और कामुकजन सी-सी करते हुये मद्य-पान करते हैं।[७] मदिरा-पृान के लिये विशेष स्थल या मदिरालय होते थे। जो पानागार कहलाते थे।[८]

---

१. घृतमरिचलवणरुषितो मांसखण्डम्। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १०४

२. अनियतवेलंाशूल्यमांसभूयिष्ठो आहारो भुज्यते। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २६

३. कादम्बरीसाक्षिकमस्मांक प्रथमसौहृदमिष्यते।
तच्छौण्डिकापणमेव गच्छाम:। — अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठोऽङ्क, पृष्ठ १०१।

४. एष गात्रसेवक: सुरो पीत्वा पीत्वा हसित्वा हसित्वा मदित्वा मदित्वा जपापुष्पमिव रक्तलोचन इत एवागच्छति।- प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १०३।

५. चेटि निपुणिके श्रृणोमि बहुशो मद: किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनम् इति। अपि सत्य एष लोकवाद:। मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ३०१।

६. चेटि मदेन क्लाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति। मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ३०१

७. पीयते चानवरतं ससीत्कारं मदिरा। मृच्छकटिकम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २४०

८. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्- चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ १०४

भोज्य पदार्थों के अलावा भोजन पकाने और खाने के बर्तनों का भी उल्लेख मिलता है। बर्तन के लिये भाण्ड[१] शब्द आया है। बर्तनों में कलश[२], घट[३], शराब[४], लोही[५], कटाह[६], का उल्लेख आया है। ये पात्र प्रायः स्वर्ण[७], लोहे[८] और कांसे[९] के बनते थे। समृद्ध व्यक्ति स्वर्ण निर्मित पात्रों का, सामान्य वर्ग लोहे और कांसे तथा दरिद्र मिट्टी के बर्तनों को प्रयोग करते थे।

इन रूपक भेदों में फलों का भी विशेष महत्त्व दिखायी देता है। गृह-उद्यानों एवं सार्वजनिकों उपवनों तथा वन में फलों के पेड़ लगाये जाते थे तथा अतिथि सत्कार या किसी से भेंट करते समय फलों का व्यवहार उत्तम समझा जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[१०] में दुष्यन्त का आतिथ्य फल मिश्रित अर्घ्य से ही किया जाता था। मालविकाग्निमित्रम्[११] में परिव्राजिका महारानी धारिणी को भेंट करने के लिये बिजौरिया नींबू ही ले जाती है। तपोवन में वन्य-फल, कन्दमूलादि आश्रमवासियों के प्रमुख आहार थे।[१२] फलों के रस का सूप[१३] रूप में भी प्रयोग किया जाता था।

---

१. बालचरितम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १८

२. एष नूनं त्वात्मगतो मनोरथः (इति कलशमावर्जयति) - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १५

३. प्रतिमानाटकम् - १/३

४. नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णम्- प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, ४/२

५. लोहीपरिवर्तनकाल साराभूमिः। चारुदत्तम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २

६. मृच्छकटिकम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १२

७. प्रतिमानाटकम् - १/३

८. मृच्छकटिकम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १२

९. भिन्न कांस्यवत्खंखणायाश्चाण्डालवाचायाः —मृच्छकटिकम्, दशम,अङ्क, पृष्ठ ५४६

१०. हला शकुन्तले। गच्छोटजम्। फलमिश्रमर्घमुपहार। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १७

११. सखि! भगवत्याज्ञापयति। अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या।
तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामि। मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २९०

१२. स्वप्नवासवदत्तम् - १/३

१३. मृच्छकटिकम् - १०/२९

फलों में आम[१] का प्रचलन अधिक था। आम के अलावा जम्बू[२], पिण्डखजूर[३] पिचुमुन्दा (नींबू)[४], नारिकेल[५], कदली[६], तिन्तिणी[७], इक्षु[८], ताल, कपित्थ (कैथा)[९] जैसे फलों का भी नामोल्लेख हुआ है।

भोजन का समय भी निश्चित हुआ करता था। मालविकाग्निमित्रम्[१०] में विदूषक राजा को भोजन बेला का स्मरण दिलाते हुये कहता है। *'अब चलिये, भोजन करना चाहिये क्योंकि आहारोचित बेला का अतिक्रमण अनेक व्याधियों का कारण होता है।'*

भोजन दिन में तीन बार किया जाता था। प्रातः कालीन भोजन **प्रातराश**[११] या **कल्यवर्त**[१२] कहलाता था। चारुदत्त[१३] नाटक में सूत्रधार क्षुधा से व्याकुल होकर नटी से प्रातराश के विषय में पूछता है। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्रम्[१४] में विदूषक द्वारा मध्याह्न काल की सूचना दिये जाने पर राजा दोपहर के भोजन का स्मरण कराता है।

---

१. नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १४
२. विक्रमोर्वशीयम् — चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २२०
३. यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ३३
४. चम्पकारामे पिचुमुन्दाजायन्ते। चारुदत्तम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ४
५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६४
६. पञ्चरात्र - १/१६
७ तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ३३
८. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२४
९. पक्वकपित्थं शीर्षं ते - चारुदत्तम्, प्रथम अङ्क ३८
१०. अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता। अत्र भवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।
- मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २८८
११ नास्ति किल प्रातराशोऽस्मांक गृहे। मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १२
१२ भो. ! सुखं न आमयपरिभूतमकल्यवर्तं च। स्वप्नवासवदत्तम्, चतुर्थ, अङ्क, पृष्ठ ८६
१३. चारुदत्तम्- प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३।
१४. मालविकाग्निमित्रम् — द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २८८

आवास

मानव जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं में आवास का भी स्थान है तथा संस्कृति का एक अंग है। रूपक भेदों में आवास व्यवस्था पर दृष्टि डालने पर स्पष्ट होता है कि स्थापत्य-कला उन्नति की पराकाष्ठा पर थी। वसन्तसेना का अष्टप्रकोष्ठमय प्रसाद परिनिष्ठित रचना का प्रमाण है।[१] भवनों का आकार-प्रकार ऊँचाई भव्यता नागरिक के सामाजिक पद तथा स्तर को भी द्योतित करती है। राज-प्रासादों और धनिकों के गृहों को छोड़कर जनसाधारण के आवास सुरक्षा की दृष्टि से बनाये जाते थे। उनका आकार-प्रकार सामान्य नागरिक के जीवन-स्तर के अनुकूल होता था। तपस्वियों के गृह उटज कहलाते थे,[२] जो घास-पत्तों से बने होते थे।

गृह निर्माण के उपकरणों में ईट, मिट्टी और काष्ठ का उल्लेख होता था, ईटें पकी हुई और बिना पकी हुई दोनों प्रकार की उपयोग में लायी जाती थी।[३]

वेश-भूषा

किसी भी काल की वेश-भूषा उस काल की संस्कृति की परिचायक होती है। विविध रूपक भेदों में नर-नारी की वेश-भूषा सुसंस्कृत एवं परिष्कृत होती है। उस समय के लोग सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्रों, आभूषण, सुगन्धित अवलेपन का प्रयोग करते थे।

स्त्री पुरुष दोनों अपने शरीर की सुरक्षा के लिए दो प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करते थे। ये वस्त्र कटिप्रान्त के ऊपर एवं नीचे पहने जाते थे। शरीर के ऊपरी भाग को

---

१. मृच्छकटिकम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २२९-२४७

२. हला शकुन्तले ! गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १७

३. इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः। तद्यथा पक्वेष्टकानामाकर्षणम् अमिष्टकानां छेदनं पिण्डमयाना सेचनं, काष्ठमयानां पादनमिति। मृच्छकटिकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १६०

ढकने के लिए उत्तरीय का प्रयोग किया जाता था, जो अधिकांशत: श्वेत दुकूल का बना होता था जिसे प्रावारक[१] भी कहते थे। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्[२] में आये शाटिका तथा मृच्छकटिकम्[३] में आये शाटी का उल्लेख उस काल में साड़ी जैसे वस्त्रों के प्रचलन को सिद्ध करता है।

सामान्य वेश-भूषा के अलावा अन्य प्रकार की वेश-भूषा के भी प्रसङ्ग मिलते है।

यतिवेश

यति या तपस्वी नगर के कोलाहल से दूर शान्त आश्रमों में निवास करते थे, अत: उनकी वेश-भूषा सांसारिकता से परे वैराग्य और साधना की प्रतीक होती थी।[४] प्रकृति प्रदत्त वल्कल ही मुनियों और वन-वासियों के वस्त्र होते थे। *शाकुन्तलम्* में दुष्यन्त आखेट के लिए जाते हुए, मार्ग में तपस्वियों के वल्कलों से टपकी हुई जल रेखाओं से तपोवन की सीमा का अनुमान कर लेते हैं।[५] *अभिषेकनाटकम्*[६] में राम वनवास रूप धर्म के लिए राजोचित वस्त्रों का परित्याग करके वल्कल वस्त्र पहनते है। *प्रतिमानाटकम्*[७] में इन वल्कल वस्त्रों के वैशिष्ट्य के बारे में कथन किया गया है- *'ये*

---

१ **अयं प्रावारक: ममोपरि उत्क्षिप्त:** । मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १४२

२ **एकस्य शाटिकया कार्यमपरस्य मूल्येन**। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ 86

३ **जर्जरस्नानशाटीनिबद्धम्** । मृच्छकटिकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १६८

४ **मङ्गलालङ्कृता भाति कौशिक्या यतिवेषयाभ्त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया**। मालविकाग्निमित्रम्, १/१४

५ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - १/१४

६ **मंगलार्थेऽनया दत्तान् वल्कलास्तावदानय। करोम्यन्यैर्नृपधर्मनैवाप्तं नोपपादितम्**। प्रतिमानाटकम्, १/२४

७ **तप: संग्राम कवचं नियमद्विरदांकुश: ।**
खलीनमिन्द्रियाश्वानां गृह्यतां धर्म सारथि:। प्रतिमानाटकम् १/२८

वल्कल वस्त्र तपस्वियों के लिए तप रूप संग्राम में कवच, संयम रूप गज के वशीकरण में अंकुश, इन्द्रिय रूप अश्व के निग्रह में लगाम का कार्य करते थे।'

परिव्राजक और बौद्धभिक्षु काषाय वस्त्र पहनते थे। *मालविकाग्निमित्रम्*[१] नाटक में देवी कौशिकी वैधव्य दुःख के कारण काषाय वस्त्र धारण कर संन्यास ग्रहण कर लेती है। *मृच्छकटिकम्*[२] में भी बौद्धभिक्षु को काषाय वस्त्रधारी कहा गया है। संन्यासी पुराने कुलथी के चूर्ण से अपने वस्त्र रंगते थे।

काष्ठनिर्मित चरणपादुका मुनिवेश का ही एक अङ्ग थी। वनवास काल में राम पैरों में पादुका ही पहनते थे।[३] तपस्वी लम्बी दाढ़ी रखते थे। हाथ में दण्ड कमण्डल लिये रहते थे[४] तथा सिर में डालने के लिए इंगुदी का तेल तपस्वीजन प्रयोग करते थे।[५]

विवाह-परिधान

विवाह की विशिष्ट वेश-भूषा होती थी।[६] वर-वधू को इस अवसर पर मांगलिक परिधान से विभूषित किया जाता है। वर स्वस्तिसूचक लाल वस्त्र धारण करता था।[७] वधू दुकूलनिर्मित ओढ़नी ओढ़ती थी और नख से शिख तक आभूषण पहनती थी। वह नाना प्रकार के औषधियों से गूंथी हुई माला भी धारण करती थी।

---

१ न युक्तं निर्वेद धृतकाषायं भिक्षु ताडयितुम। मृच्छकटिकम्, अष्टम् अङ्क, पृष्ठ ३७६

२. तस्यां त्वं पुष्करिण्या पुराणकुलित्थयूषशवलानि दूष्यगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि। मृच्छकटिकम्, अष्टम् अङ्क, पृष्ठ ३७९

३ पादोपभुक्ते तव पादुके मा एते प्रयच्छ प्रणताय मूर्ध्ना । प्रतिमानाटकम्, ४/२५

४ तच्च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिका भाजनं शीकरैः सिक्ता । मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १४०

५ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २४

६ विवाहनेपथ्येन खलु शोभते मालविका । मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३४३

७ मृच्छकटिकम् - १०/४४

स्वप्रवासवदत्तम् में चेटी वासवदत्ता से पद्मावती के लिए कौतुक माला गूंथनें को कहती है।[१] कौशेयपत्रोर्णयुगल[२] भी विवाह के नेपथ्य में समाविष्ट था, जिसका सङ्केत मालविकाग्निमित्रम् में मिलता है।

समरवेश

जिस प्रकार विवाह की विशिष्ट वेश-भूषा होती थी, उसी प्रकार योद्धाओं की भी विशिष्ट वेश-भूषा होती थी, जिसे समरवेश कहते थे। धनुष-बाण आदि अस्त्र-कवच, अंगुलित्राण समरवेश में परिगणित थे[३] तथा ये योद्धागण श्वेतच्छत्र भी धारण करते थे।[४]

अभिसारिका-वेश

सामान्य स्त्रियों की तुलना में अभिसारिकाओं का वेश-विन्यास पृथक् होता था। अवसर और परिस्थिति के अनुसार इनका वेश परिवर्तित होता रहता था। कभी इनकी वेश-भूषा तड़क-भड़क वाली होती थी और कभी सामान्य। विक्रमोर्वशीयम्[५] में उर्वशी सामान्य अभिसारिका का वेश धारण करती है वह नीलांशुक पहनकर अल्पाभरणों से अपने को अलंकृत करती है।

दस्यु वेश

मालविकाग्निमित्रम् में दस्युओं की वेश-भूषा का वर्णन हुआ है। डाकू हाथ में धनुष बाण लिये रहते थे और कन्धे पर तूणीर धारण करते थे। उनकी पीठ पर मोर के लम्बे-लम्बे पंख बंधे रहते थे।[६]

---

१. एमां तावत् कौतुकमालां गुम्फतु आर्या । स्वप्रवासवदत्तम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७९

२ मालविकाग्निमित्रम् - पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३५६

३. पञ्चरात्र - २/२

४ पञ्चरात्र - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ५५

५ हला चित्रलेखे, अपि रोचते तेऽयं मेऽल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः।
- विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १९८

६. मालविकाग्निमित्रम् - ५/१०

प्रतिहारी की वेश-भूषा

नाटकों में स्थान-स्थान पर द्वारपाल और प्रतिहारी का उल्लेख हुआ है किन्तु उसकी वेश-भूषा का स्पष्ट आभास कहीं नहीं मिलता है। प्रतिमानाटकम् में द्वारपालिका को श्वेत अंशुक धारण किये हुए बताया गया है।[१] अन्तःपुर का द्वाररक्षक कञ्चुकी कहलाता था, वह सम्भवतः जैसा कि उसके सम्बोधन से स्पष्ट है कि वह लम्बा कञ्चुक धारण करता था तथा वृद्ध होने के कारण उसके हाथ में बेंत की छड़ी रहती थी।

मृगया-वेश

केवल अभिज्ञानशाकुन्तलम्[२] में इस वेश का सङ्केत मिलता है। दुष्यन्त कण्व आश्रम में पहुँचकर अपने परिजन से आखेट की वेश-भूषा उतारने को कहता है, इससे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शिकारियों की एक विशिष्ट वेश-भूषा होती थी किन्तु यह वेश-भूषा कैसी और किस प्रकार की होती थी इसका कोई परिचय नहीं मिलता है।

यवनी-वेश

राजा की यूनानी अंगरक्षिकाओं का विशिष्ट वेश यवनी-वेश कहलाता था। ये अंगरक्षिकायें अपने विशिष्ट वस्त्रों के कारण तुरन्त पहचान ली जाती थी। ये गले में वन्यपुष्पों की माला लिये हुए और हाथ में धनुष लिये हुए राजा की रक्षा करती थीं।[३]

---

१. चरति पुलिनेषु हंसी काशांशुकवासिनी सुसंहृष्टा।
मुदिता नरेन्द्रभवने त्वरिता प्रतिहाररक्षीव। प्रतिमानाटकम्, १/२

२. अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेशम् - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ३२

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २७

विरहिणी और विरही की वेश-भूषा

विरहिणी नारियां प्रिय के विरह में समस्त शृङ्गार छोड़ देती थी। वे मलिन वस्त्र धारण कर अतीत की स्मृति में अपना समय व्यतीत किया करती थी।[१] वे एक वेणी बाँधती थीं[२] एवं विरही स्त्रियों को आभूषणों से अरुचि हो जाती थी।[३] व्रत उपवासादि[४] नियमों और अनाहार[५] के कारण उनका शरीर कृश हो जाता था। शकुन्तला दुष्यन्त के विरह में, सीता राम के विरह में, कुरंगी अविमारक के विरह में विरहिणी वेश धारण करती है।

पुरुष भी प्रिया के विरह में विक्षिप्त से हो जाते थे, उनकी वेश-भूषा प्रमत्त व्यक्ति सी प्रतीत होती थी। दुष्यन्त शकुन्तला के विरह में विशिष्ट एवं राजोचित मण्डन विधि का परित्याग कर देता है दिन रात उसी का स्मरण करता है।[६]

नियम-वेश

व्रत उपवास आदि के अवसर पर नर-नारी जो परिधान धारण करते थे, उसे नियम-वेश कहते है। शाकुन्तलम् में सातवें अंक में ऋषि के आश्रम में विरह के कारण नियम वेश-धारी दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर कहता है।[७]

---

१. वसने परिधूसरे वसना - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७/२१

२. धारयन्त्येकवर्णा - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २/८

३. सुमनो वर्णनेच्छति - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ६२

४. विहितनियमवेषा राजर्षिमहिषी दृश्यते। विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ २०२

५ विक्रमोर्वशीयम् - ३/१२

६. दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरयि चित्रीकृता कान्ता । अभिज्ञान शाकुन्तलम् , पृष्ठ ३२६

७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २/७

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतेकवेणिः ।
शुद्धशीला मम दीर्घ विरहव्रतं विभर्ति॥

अर्थात् जो अत्यन्त मलिन वस्त्रों को पहनी हुई नियम पालन के कारण कृश मुखवाली एक चोटी को धारण करती हुई, पवित्र आचरण वाली, यह शकुन्तला अत्यंत निर्दय मेरे लम्बे विरह व्रत को धारण कर रही है।

वध्य पुरुष की वेश-भूषा

मृच्छकटिकम् प्रकरण में वध्य व्यक्ति की वेश-भूषा का सङ्केत मिलता है जिस व्यक्ति का वध किया जाता था वह रक्त वस्त्र धारण करता था।[१] उसे करवीर पुष्पों की माला पहनायी जाती थी।[२] सम्पूर्ण शरीर को पितृवन के पुष्पों से परिवेष्टित किया जाता था।[३] उसके शरीर पर रक्त चन्दन के छापे लगाये जाते थे और तिल, तण्डुल आदि के पिसे हुए चूर्ण का अवलेपन किया जाता था।[४] वेश-भूषाओं के वैविध्य के इसी क्रम में स्नानीय वेश भी उल्लिखित है। मालविकाग्निमित्रम्[५] में स्नान के समय एक विशेष प्रकार के वस्त्र का उल्लेख है जो स्नानीय वस्त्र कहलाता है।

ग्वालों के लिए पृथक् वेश-भूषा का सङ्केत बालचरितम् में मिलता है जिसे गोपालकवेश कहा जाता था।[६]

---

१. मृच्छकटिकम् - १०/४४
२. दत्तकरवीरदामा । मृच्छकटिकम्, १०/२
३. मृच्छकटिकम् - १०/५
४ मृच्छकटिकम् - १०/५
५. मालविकाग्निमित्रम् - ५/१२
६. विष्णोर्बालचरिमनुभवितुं गोपलकवेशप्रच्छन्नाः ।
घोषमेवावतरिष्याम : । बालचरितम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ 38

वेश-भूषा की विविधता के साथ-साथ वस्त्रों के प्रकार भी विविध थे। महीन रेशमी वस्त्र अधिक प्रचलित थे। सूती, ऊनी कपड़ों में भी रेशम का अंश मिला रहता था। कौशेय पत्रोर्ण इसी प्रकार का ऊनी रेशमी वस्त्र है, जिसे मालविका विवाह के अवसर पर धारण करती है।[१] वस्त्र के विभिन्न प्रकारों में क्षौम[२], दुकूल[३], कौशेय पत्रोर्ण[४], पत्रोर्ण[५], अंशुक[६] का उल्लेख है। यह अशुंक महीन सुन्दर वस्त्र था जो अलसी की छाल की रेशों से बनता था।[७]

इनमें से क्षौम वस्त्र विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर प्रयुक्त होता था।[८] यह क्षौम रेशों से तैयार होने वाला वस्त्र था। सम्भवत. आसाम में बनने वाला कपड़ा था, क्योंकि आसाम के कुमार भास्कर वर्मा ने हर्ष के लिए जो उपहार भेजे थे उनमें क्षौम वस्त्र भी शामिल थे।[९]

क्षौम के समान दुकूल भी दुकूल वृक्ष की छाल के रेशों से बना करता था यह पुंड्रदेश से बनकर आता था।[१०] इसी प्रकार पत्रोर्ण नाम के वस्त्र का उल्लेख मालविका के विवाह के अवसर पर हुआ है।[११] ये वस्त्र श्वेत, नील आदि अनेक वर्णो के होते

---

१. मालविकाग्निमित्रम् - ५/७

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४/५

३. विक्रमोर्वशीयम् - पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३९९

४. गच्छ तावत्! कौशेयपत्रोर्णयुगलमुपनय । मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ ३५६

५. प्रेष्य भावेन नामेयं देवो शब्दक्षमासती स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्ण दीपयुज्यते। मालविकाग्निमित्रम्, ५/१२

६. विक्रमोर्वशीयम् - ३/१२

७. प्राचीन वेश-भूषा - डॉ मोतीचन्द्र (भूमिका) पृष्ठ ५

८. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - ४/५

९. हर्षचरित-एक संस्कृत अध्ययन - वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ ७७

१०. प्राचीन वेश-भूषा - डॉ0 मोतीचन्द्र (भूमिका), पृष्ठ ८

११. मालविकाग्निमित्रम् - ५/१२

थे। श्वेत रंग के अंशुक को सितांशुक[1] नील वर्ण के वस्त्र को नीलांशुक[2] कहा जाता था। अभिसारिका-वेश में नीलांशुक ही धारण किया जाता था।[3]

वस्त्रों के प्रकार के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि ये वस्त्र स्यूत होते थे अथवा नहीं। अनुमानतः यह बिना सिले पहने जाते थे। दुकूल युग्म, क्षौम युग्म, कौशेय पत्रोर्ण युगल जैसे शब्दों से यही सिद्ध होता है कि दो वस्त्र प्रयुक्त होते थे, एक निम्न भाग को आवृत्त करने के लिए जिसे अधोवस्त्र कह सकते है दूसरा ऊपरी भाग के लिए जिसे उत्तरीय कह सकते हैं।[4]

स्तनांशुक भी सौन्दर्य वृद्धि के लिए पहना जाता था। यह ब्लाउज की तरह सिला नहीं जाता था वरन् अंशुक जैसी रेशमी वस्त्र के टुकड़े को सामने से ले जाकर पीछे गाँठ बांधकर उसे वक्षावरण का रूप दे दिया जाता था।[5]

पुरुष सिर पर वेष्टन[6] या पट्ट[7] बाँधते थे। मृच्छकटिकम् में शकार वसन्तसेना को प्रसन्न करने के लिए अपनी पगड़ी युक्त सिर उसके चरणों में रखने को उद्यत हो

---

१. सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्र दूर्वाङ्कुरः लाञ्छितालका । विक्रमोर्वशीयम् , ३/१२

२. हला चित्रलेखे! अपि रोचते सोऽयं मेऽल्पाभरणभूषितो नीलांशुक परिग्रहोऽभिसारिकावेशः।

– विक्रमोर्वशीयम् तृतीय अङ्क, पृष्ठ १९८

३. विक्रमोर्वशीयम् – तृतीय अङ्क, पृष्ठ १९८

४. यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावम्मया निर्वाहित आत्मा। अभिज्ञानशाकुन्तलम् – षष्ठोऽङ्क, पृष्ठ ११९

५. इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनत्परा ।
स्नेहं प्रस्विनिभिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् । विक्रमोर्वशीयम्, ५/१२

६ पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन। मृच्छकटिकम्, ८/३९

७. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् । ४/३

जाता है।[१] चरणों की रक्षा के लिये जूते[२] और पादुका उपयोग में लाये जाते थे। आभूषण में हार[३], केयूर[४], अंगद[५], कंकण[६], अंगुलीयक[७] मुख्य थे। कानों के आभूषण के लिए कर्णमूलिका का वर्णन मिलता है। स्वप्रवासवदत्तम्[८] के द्वितीय अङ्क में कर्णमूलिका का प्रसङ्ग है। कञ्चुकक्रीड़ा के समय पद्मावती की कर्णमूलिका कान के ऊपर चढ़ जाती है।

गले में मोतियों के नाना प्रकार के हार पहने जाते है। हारों में मौक्तिक[९], मुक्तावलि[१०], एकावली वैजयन्ती[११] प्रमुख थे।

अंगुली के लिए अंगुलीयक का उल्लेख मिलता है। यह कई प्रकार की होती थी। किसी अंगूठी में नाग आदि की मुद्रा बनी रहती थी, जिसमें केसर के समान पीली किरणें फूटती थीं[१२] और किसी अंगूठी में रत्न के मध्य व्यक्ति का नाम अंकित रहता

---

१. मृच्छकटिकम् - ८/३१

२. एषा पुनः काफुल्लप्रावारकप्रावृता . . . । मृच्छकटिकम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २४४

३. . . . . . वक्षस्युत्पतितैः प्रहार रुधिरैर्हारावकाशो दृप्तः । उरुभङ्ग, १/५१

४. पश्येमौ व्रणकांचननांगदधरौ पर्याप्तशोभो भुजौ। उरुभङ्ग, १/५१

५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।

६. अनुसूया . . . . . अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६०

७. स्वनामधेयांकितमंगुलीयकम् स्मरणीयमिति स्वयं . . . । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ६०

८. इयं भर्तृदारिका उत्कृतकर्णमूलिकेन व्यायामसञ्जात स्वेदबिन्दुविचित्रेन । स्वप्नवासवदत्तम्, द्वितीय अङ्क

९. ते कुसुमिता· नाम प्रवालान्तरितैरिव मौक्तिकलम्बकेराचिताः कुसुमैः । स्वप्नवासवदत्तम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ९०

१०. पीनस्तनोपरिनिवातिभिरानयन्ती मुक्तावली विरचनां पुनरुक्तिमस्त्रैः । - विक्रमोर्वशीयम्, ५/१५

११ अहो लताविटप एषैकावली वैजयन्ती मे लग्ना । - विक्रमोर्वशीयम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १६४

१२. कुमुदिनी - अहो बकुलबलिका ! सखि। देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं ।
नाग मुद्रासनाथमगुलीयकं स्निग्धं निध्यान्ती तवोपालम्भैपतितास्मि॥ अनेनांगुलीय दुर्भिन्नकिरणकेसरेण। - मालविकाग्निमित्रम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ २६३।

था। शाकुन्तलम्[१] में शकुन्तला को राजा के द्वारा दी गयी अंगूठी में राजा का नाम अंकित रहता है। दुर्वासा के शाप से भयभीत सखियाँ शकुन्तला को यह सलाह देती है- *'यदि राजा तुम्हें पहचानने से इन्कार करे तब राजा की नामांकित अंगूठी उसे दिखा देना।'* अंगुलीयक का उपयोग कभी-कभी अधिकार की सूचना के लिए भी होता था। मालविकाग्निमित्रम्[२] में ऐसा प्रसङ्ग मिलता है।

प्रसाधनों में कटि के आभूषणों का बड़ा महत्त्व था। इसमें मेखला, काञ्ची[३], रशना[४] तीन आभूषण मुख्य थे। मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थ अङ्क में एक ही प्रसङ्ग में तीनों का एक साथ वर्णन हुआ है, अतः एक ही आभूषण के नाना प्रकार के नाम है। पदाभूषणों के अन्तर्गत नूपुर का नाम आता है[५] जिसका सङ्केत मालविकाग्निमित्रम् में मिलता है। यह सम्भवतः आधुनिक पायजेब या पायल का ही दूसरा रूप था, इससे चलते समय छनन-छनन का मधुर रव जिसे शिंजन[६] कहा गया है, उत्पन्न होती थी।

नारियाँ ऋतु अनुकूल पुष्पों[७] से अपने केश और शरीर को अलङ्कृत करती थी। पुष्पों का आभूषणों के रूप में भी प्रयोग होता था। अवतंस और हार[८] अधिक प्रचलित आभूषण थे। वन कन्यायें प्रसाधन रूप में पुष्पाभरण का इस्तेमाल करती थी।

---

१. सखि! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्यये भवेत्ततस्तस्यदेमात्म नामधेयाङ्कितं अंगुलीयकं दर्शय। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७६

२. ममाङ्गुलीयकमुद्रिकाम् दृष्ट्वा न भवितव्या, त्वया हताशा मालविका चेति । - मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ३१७

३. वाष्पसारा हे काञ्ची गुणे। श्रेणिबिम्बादत्युपेक्षाच्युतेन। मालविकाग्निमित्रम्, ३/२०

४. इरावती रशनासंघटितचरणा व्रजत्येव । मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ३११

५. अन्यथा कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरयुगलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति । मालविकानिमित्रम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ३०२

६. मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम् कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिंजितम्। विक्रमोर्वशीयम्, ४/३०

७ अत्र ह्रासानता . . . . . हयन्ति। अविमारकम् पञ्चम अङ्क, पृष्ठ १२२

८. भर्तृदारिकायै सुमनोर्णकं मया रोचते। अविमारकम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ १२२

शाकुन्तलम्[१] में शकुन्तला कर्णावतंस के रूप में शिरीष पुष्प धारण करती थी। विवाह के अवसर पर स्त्रियां नख से शिख तक आभूषण धारण करती थीं। स्वप्रवासवदत्तम्[२] में चेटि वासवदत्ता से पद्मावती के लिए कौतुक माला गूंथने को कहती है।

अवलेपनों के अन्तर्गत रक्त चंदन[३] का वर्णन मालविकाग्निमित्रम् में मिलता है। अलक्तक[४], कालागुरु, चन्दन[५] तथा ओष्ठरागादि[६] अवलेपनों का प्रयोग शीतलता और सुगन्धि के लिए होता था।

शिष्टाचार

सामान्य जनसमूह में परस्पर में किये गये व्यवहार में कुछ सामाजिक औपचारिक रूप से मान्य नियम हुआ करते थे, जिनके पालन की अपेक्षा समाज किया करता था। ये औपचारिक नियम तत्कालीन संस्कृति के अङ्ग थे।

आगन्तुक का स्वागत-सत्कार गृहस्थ का अनिवार्य कर्त्तव्य था। इस सत्कार में मात्र औपचारिकता ही नहीं होती थी बल्कि अतिथि के प्रति महती आस्था दिखायी पड़ती थी। अतिथि के आगमन पर उसका अभिवादन किया जाता था।[७] उसको बैठने के लिये आसन दिया जाता था।[८] उसके बाद पाद और अर्घ्य से उसका आतिथ्य किया जाता था।[९] इस प्रारम्भिक औपचारिकता के बाद परस्पर कुशलक्षेम विषयक प्रश्न किये

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २४

२. इमां तावत् कौतुकमालां गुम्फतु आर्या । स्वप्रवासवदत्तम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७९

३. देव! प्रवात शयने देवी निषण्णा ..... तिष्ठति । मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ३१७

४. चारुपदपक्तिरलक्तकांका । विक्रमोर्वशीयम्, ४/१६

५. ... कालागुरुचन्दनार्द्रा ..... । अविमारक, ५/१

६ हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः . । विक्रमोर्वशीयम्, ४/१७

७ अये भगवान् ! भगवन्! अभिवादये। प्रतिमानाटकम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३२

८ भगवान्! एतदासनमास्यताम् । प्रतिमानाटकम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ १३२

९ इदानीं . . .. भविष्यन्ति। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृष्ठ १७

जाते थे और अतिथि अपने आगमन का उद्देश्य प्रकट करता था।[१] अतिथि-सत्कार में मधुर एवं नम्र शब्दों का प्रयोग शिष्टाचार का अङ्ग माना जाता था।[२] स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम अङ्क में कञ्चुकी का ब्रह्मचारी से *'प्रतिगृह्यतामतिथिसत्कारः'* कहना एक आगन्तुक के प्रति सत्कार प्रदर्शित करना है।[३] इसी नाटक के छठें अङ्क में भी अतिथि-सत्कार का उदाहरण मिलता है।[४] जब यौगन्धरायण के ब्राह्मण वेश में आने पर उसे *'शीघ्र प्रवेश्यतामभ्यन्तरसमुदाचारेण'* कहकर सत्कार प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार प्रतिमानाटकम् में राम रावण से *स्वागतमतिथये* कहकर स्वागत करते है। *अभिषेकनाटकम्*[५] में आतिथ्य सत्कार का निदर्शन है जब राम विभीषण के आगमन को सुनकर उसे सत्कार पूर्वक प्रवेश करने का आदेश देते हैं तथा पञ्चरात्र[६] में भी राजा विराट युधिष्ठिर से वार्तालाप के समय धन सामर्थ्य से अतिथि को पूजा के योग्य बताते हैं।

आज की ही तरह उस समय भी अतिथि के आगमन पर पैर धोकर उसकी थकान दूर करने का प्रचलन था। चारुदत्तम्[७] नाटक में इसका उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मृच्छकटिकम् में जब आर्य चारुदत्त विदूषक के साथ रेभिल का संगीत सुनकर घर लौटते हैं तो विदूषक कहता है,- *वर्धमानक-रदनिकामाकारय पादौ धावितुम्*।[८]

इसी प्रकार अभिवादन संस्कृति के अन्तर्गत यह भी प्रचलित था कि किसी के जाते समय उसे पहुँचाने जाने पर उसके पुनार्गमन की भी अभिलाषा व्यक्त की जाती

---

१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ १८

२ भवतीनां सुनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १७

३ राजा-गच्छ, कुमार विधिविशिष्टेन सत्कारेण वत्सराजमग्रतः कृपा प्रवेश्यताम्। भासनाटक चक्र, पृष्ठ ७९

४ भास नाटक चक्र- स्वप्नवासवदत्तम्, षष्ठम् अङ्क

५ राम. सत्कृत्य प्रवेश्यताम्। भास नाटक चक्र, पृष्ठ ३४९

६ राजा-पूजार्होऽप्यतिथिर्भवेत् स्वविभवैरिष्टा हि नः पाण्डवाः - पञ्चरात्र, २/३९

७ नायकः पादोदकमानय। चारुदत्तम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १७७

८ मृच्छकटिकम्, तृतीय अङ्क- पृष्ठ ११०

थी। स्वप्नवासवदत्तम्[1] में कञ्चुकी के द्वारा कहे गये कथन में ऐसा सङ्केत मिलता है।

इष्टजन को विदा करते समय सगे-सम्बन्धी उन्हें किसी जलाशय तक छोड़ने जाते थे। शकुन्तला को विदा करते समय महर्षि कण्व और अनुसूया आदि सखियां सरस्तीर पहुँचाने जाते हैं।[2] जब कोई व्यक्ति दीर्घ प्रवास के पश्चात् नगर में प्रवेश करता था तब उसका प्रवेश के पूर्व नगर के समीप थोड़ा विश्राम करके नगर में प्रवेश करना लोकोपचारों में गिना जाता था।[3] इसी प्रकार किसी के घर में पूछकर प्रवेश करने का नियम है। बिना पूछे प्रवेश करने के अपराध पर क्षमा भी माँगी थी। चारुदत्तम् नाटक[4] में गणिका वसन्तसेना इसी अपराध के लिये चारुदत्त से क्षमा मांगती है तथा गणिका का अंतःपुर में प्रवेश निषिद्ध भी था-मृच्छकटिकम् में वसंतसेना का यह वाक्य इस तथ्य का सङ्केत देता है-*'वसन्तसेना-मन्दभागिनी विभवहं तवाभ्यन्तरस्यं।'*[5]

जब कभी किसी सम्मानीय व्यक्ति से मिलने जाया जाता था तो उसे कुछ न कुछ उपहार अवश्य दिया था। ऋषिगण राजा दुष्यन्त से मिलते समय उसे फल भेंट करते हैं।[6] *मालविकाग्निमित्रम्* नाटक[7] में भी इसी तरह का प्रसङ्ग मिलता है। भगवती

---

१ काञ्चुकीयः- गच्छतु भवान् पुनदर्शनीय। स्वप्नवासवदत्तम् , प्रथम अङ्क

२ भगवन् ! ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते।
तदिदं सरस्तीरम् । अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ७३१

३ अथ च उपोपविश्य प्रवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः। प्रतिमानाटकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७५

४ गणिका-आर्य-चारुदत्त अदत्तभूतिप्रवेशप्रधर्षेण नापराद्धहमार्थ शीर्षक प्रसादयामि।
- चारुदत्तम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ ४६।

५ मृच्छकटिकम् प्रथम अङ्क, पृष्ठ ५७

६ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ३७

७. मालविकाग्निमित्रम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ २९८

कौशिकी महारानी धारिणी से मिलने जाते समय बिजौरिया नींबू उपहार के लिये माँगती है।

समाज में धरोहर रखने की भी प्रथा थी, लेकिन उसके साथ कुछ निश्चित नियम भी थे। किसी की धरोहर का उत्तरदायित्व लेने पर उसे न लौटा पाने पर सममूल्य की वस्तु लौटाकर प्रायश्चित किया जाता था। चारुदत्तम् नाटक[१] मे ऐसा उदाहरण मिलता है। चारुदत्त के घर में वसन्तसेना के द्वारा धरोहर रूप में रखे गये आभूषण चोरी हो जाने पर उन आभूषणों के सममूल्य मुक्तावली को भिजवाते समय आर्यचारुदत्त का यह कथन तत्कालीन सामाजिक मर्यादा एवं शिष्टाचार का द्योतक है। आर्यचारुदत्त कहते हैं- *'जिस विश्वास के ऊपर उसने मेरे पास धरोहर रखी। उस महान् विश्वास के मूल्य स्वरूप मुक्तावली उसे दे दो।'* कहीं-कहीं धरोहर लौटाते समय साक्षी के भी प्रस्तुत होने का उल्लेख मिलता है। स्वप्नवासवदत्तम्[२] में यौगन्धरायण वासवदत्ता को न्यासरूप में रख जाता है और अन्त में जब लेने के लिये आता है तो राजा पद्मावती से साक्षी के सामने उस धरोहर को लौटाने के लिये कहते है।

जब कभी कोई प्रतिज्ञा या सङ्कल्प लिया जाता था तो उसके पूर्व जल का आचमन किया जाता था। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्[३] में अमात्य यौगन्धरायण जल का आचमन करके स्वामी को शत्रु बन्धन से मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा करता है। एक अन्य विचित्र सामाजिक प्रथा का सङ्केत उपलब्ध होता है, जिसे *'तृणान्तराभिभाषण'* प्रथा

---

१ यं समालक्ष्य विश्वास, न्यायसोऽस्मासु कृतस्तया।
तस्यैतन्महतो मूल्य प्रत्ययस्य प्रदीयताम्॥ चारुदत्तम्, ३/१९

२ राजा-साक्षिमन्यासो निर्यातयितव्यः । भास नाटक चक्र, पृष्ठ १४

३. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३८

कहा जाता था। जिसके अनुसार दुष्ट के साथ तिनका बीच में रखकर वार्तालाप किया जाता था, दूतवाक्य[१] में इसका प्रसङ्ग मिलता है जब श्रीकृष्ण दुर्योधन जैसे दुरात्मा व्यक्ति से तिनका रखकर वार्तालाप करना उचित समझते हैं।

सभा में अकस्मात् किसी को छींक अथवा जमुहाई आने पर आशीर्वादात्मक वचनों के प्रयोग की रीति थी। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्[२] में इस सामाजिक शिष्टाचार की ओर भी सङ्केत किया गया है।

प्राचीन पारिवारिक जीवन में बड़ों के प्रति शिष्टाचार एवं सदाचार का पूरा ध्यान रखा जाता था। बालक गुरुजन का अभिवादन करते समय *तात*[३], *आर्य*[४], *वन्दे*[५] *अभिवादय*[६] आदि शब्दों का प्रयोग करते थे। गुरुजन आशीर्वाद देते समय *वत्स*[७], *पुत्रक*, *स्वस्ति*[८] आदि का उच्चारण करते थे। पत्नी पति को आर्य[९] कहती थी। पति पत्नी को *प्रिये*[१०] अथवा *प्रेयसि*[११] कहकर सम्बोधित करता था। समवयस्क एक दूसरे को वयस्य कहते थे, किन्तु मध्यम वर्ग के पात्र एक दूसरे को 'हंहो' कहकर सम्बोधित करते थे, समवयस्क कुलीन नारियां एक दूसरे को *हला*, *सखि*, *अयि*, *आलि* और निम्न

---

१ भो· कुरुकुलकलङ्कभूत ! अयशोलुब्ध । वयं किल तृणान्तराभिभाषका.। दूतवाक्यम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ३०

२ क्षुतादिप्रयोगेष्वाशिषोऽभिधेया:। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ६८

३. भोस्तात् ! अभिवादये। मध्यमव्यायोग, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १७

४ आर्य मा मैवम् । मध्यमव्यायोग, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २५

५. तात वन्दे । विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ २४७

६ मध्यमव्यायोग- प्रथम अङ्क, पृष्ठ १७

७ एहि वत्स - विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम अङ्क पृष्ठ २५६

८ स्वस्ति भवतो । विक्रमोर्वशीयम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ २४७

९ आर्य ! मा मैवम् । मध्यमव्यायोग, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १४

१० हा प्रिये ! मध्यम व्यायोग, प्रथम अङ्क, पृष्ठ १४।

११ मृच्छकटिकम् - १०/५७।

वर्ग की नारियां *'हंडे'* कहकर सम्बोधित करती थीं। श्रेष्ठ या उच्च पात्र *'आर्य'* या *'अलं भवान्'* कहे जाते थे, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में उन्हें *'तत्र भवान्'* ! कहा जाता है। नारी पात्रों के लिए आर्ये, अत्रभवती इत्यादि का प्रयोग होता था।

समस्त ऋषियों, तपस्वियों और ब्रह्मचारियों को भगवान् कहकर सम्बोधित किया जाता था। तपस्वियों और ऋषियों की पत्नियों को भगवती कहा जाता था। रानी को देवी कहा जाता था तथा रानियों में जो ज्येष्ठ होती थीं उन्हें भी देवी कहा जाता था। राजा की प्रेमिकाओं को *भट्टिनी* नाम से सम्बोधित किया जाता था तथा अन्य रानियों को स्वामिनीं या भोगिनी कहा जाता था। दूती को *'हञ्जे'* गणिका को *'अज्जुके'* कहा जाता था।

राजा तथा अधिकारी वर्ग को *'स्वामिन्'* कहकर सम्बोधित किया जाता था। भृत्यवर्ग को *भट्ट, भट्टारक* कहकर सम्बोधित किया जाता था।

अलौकिक तत्त्व

तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, शाप और दैवी विद्याओं जैसे अलौकिक तत्त्वों में भी जनता का विश्वास था। मन्त्रों में दैवी शक्ति मानी जाती थी।

सांसारिक आधि-व्याधि के निराकरण के लिये रक्षा-सूत्र और रक्षा-गण्डक पहनने की प्रथा भी थी। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् में राजमाता नाग-वन को गये हुये अपने पुत्र के जीवन रक्षा के लिये समस्त बन्धुओं के हाथ से स्पर्श किया गया रक्षा-सूत्र भेजती है।[१] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भरत के हाथ में अपराजिता नामक औषधि से युक्त तावीज बाँधा गया था।[२]

---

१ सर्ववधूजनहस्तयुक्ता वा एका व प्रतिसरा हीयतामिति। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, अंक १, पृ० १०

२ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - अक ६, पृष्ठ १३९

प्रतिमानाटक में रावण अपनी माया से कांचन-मृग की रचना कर राम को प्रवंचित करता है।[१] ऋषियों का शाप अमोघ माना जाता था। अविमारक नाटक में चण्डभार्गव ऋषि के शाप से सौवीर-राज सपरिवार खपाकत्व को प्राप्त होता है।[२]

भाण साहित्य में जिस समाज का प्रतिबिम्ब मिलता है उसमें अन्धविश्वासों का प्रचलन अत्यधिक मात्रा में था। ईसा पूर्व से लेकर 20वीं शती तक के भाणों में अन्धविश्वासों की यह परम्परा लगभग एक सी मिलती है।[३]

शुभ और अशुभ सूचक शकुन तथा अपशकुन पर विचार किया जाता था। भवन के ऊपर मुंडेरी या बलभी पर बैठा हुआ कौआ आदि जब बोलकर उड़ जाता था तो प्रिय के आगमन का संकेत माना जाता था। पद्मप्राभ्रातृक भाण में आयी कथा के अनुसार मौर्य कुमार चन्द्रोदय के विरह में व्रतोपवास करती हुई उसकी प्रेयसी कुमुद्वती वलभी की गोद पर बैठे हुए कौए से पूँछती है कि मेरा प्रिय आयेगा कि नहीं, यदि आवे तब तो तू दूसरे तोरण पर जा बैठ, मैं प्रिय के मिलने पर तुझे दही भात खिलाऊँगी'। छींक को अपशकुन माना जाता था। आवश्यक से आवश्यक कार्य भी छींक हो जाने पर स्थगित कर दिया जाता था। यात्रा के समय स्त्री दर्शन शुभ शकुन माना जाता था। दक्षिण भुजस्पन्दन को वरस्त्रीलाभसूचक मानने की परम्परा थी। कौवे का वायें से दायें निकल जाना शुभ माना जाता था। दण्डपाणि व्यक्ति यदि यात्रा के समय सामने आ जाता था तो वह अपशकुन का सङ्केत था। निशावसान के समय देखे

---

१ प्रतिमानाटकम् - अक ५, पृष्ठ १४०-१४२।

२ यस्माद् ब्रह्मर्षिमुख्योऽहं खपाक इति भाषितः। तस्मात् सपुत्रदारस्तवं खपाकत्वामवाप्स्यसि। अविमारक नाटकम्

३ सस्कृत भाण साहित्य की समीक्षा : डा० श्रीनिवास मिश्र।

गये स्वप्न सत्य माने जाते थे किन्तु स्वप्न देखने के बाद यदि वह व्यक्ति सो जाता है तो स्वप्न झूठा भी हो जाता था। देवी देवताओं की अन्ध मान्यता थी। काली देवी साक्षात् बोलकर आशीर्वाद देती हैं इस बात पर विश्वास किया जाता था। शृङ्गार चूड़ामणि का मित्र अपनी प्रेम कहानी सुनाते हुए कहता है कि किस प्रकार देवी के मन्दिर में मूर्ति के पीछे छिपकर वह स्वयं ऐसे बोलने लगा जैसे देवी स्वयं बोल रही हों। इसी प्रकार पंचायुधप्रपंच में भगवती भद्रजटा में देवी बनकर कलहंसा के पिता को तीन महीने तक समस्त बन्धु बान्धवों सहित घर छोड़कर मन्दिर में रहने की बात कही और वह ऐसा करने को तैयार हो गया। उधर घर खाली हो जाने पर कलहंसा का कन्दर्प-विलास से संयोग करा दिया। देवी देवताओं की कृपा से कामरूप धारण कर स्त्रियों को चकमा देकर लोग उनसे विवाह तक कर लेते थे। शृङ्गास्तवक भाण में केरल देशवासी एक व्यक्ति देवी की कृपा के कामरूपधारी होने का वरदान प्राप्त कर कुरुविन्दलेखा के रूप पर मुग्ध होकर, शृङ्गार-चूड़ामणि का रूप बनाकर विवाहोत्सव में रत्नपीठ पर बैठकर उसे ग्रहण करने ही वाला था कि इतने में वास्तविक शृङ्गार चूड़ामणि के आ जाने पर उसका रहस्य खुल जाता है।

भूत-प्रेत तथा ग्रहों के प्रति भी अन्ध मान्यता थी। भूत-प्रेत को तन्त्र-मन्त्र द्वारा दूर किये जाने पर विश्वास था। वसन्ततिलका भाण में लक्षाधीश श्रेष्ठी की कन्या शृङ्गारशेखर के विरह में पीड़ित है किन्तु पिता उसे ग्रहग्रस्त मानकर उपचार करता है। कुलांगनायें प्रेमियों से मिलने के लिए ससुराल में कभी-कभी भूताविष्टा होकर बहाने से अपने अनुकूल वातावरण बना लेती थीं। पंचायुद्धप्रपंच में कामांगमञ्जरी मणिभद्र नामक यक्ष से आविष्टा होकर पूर्व जन्म की कथा कहकर अपने प्रेमी मन्दारशेखर से मिलती है।

चिकित्सा-व्यवस्था

सामाजिक सुख-समृद्धि के लिए सामाजिक नीरोगता अनिवार्य है। कहा भी गया है, *'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'* इस युग में औषधि विज्ञान एवं चिकित्सा-शास्त्र उन्नत एवं विकासशील था। समाज में वैद्यों[१], भिषजों[२], चिकित्सकों[३] का बाहुल्य था। मालविकाग्निमित्रम्[४] में ध्रुवसिद्धि नामक विषवैद्य सर्पदष्ट व्याधियों का विशेषज्ञ है। रोगोपचार के पूर्व उसका कारण जाना जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[५] में सखियाँ शाकुन्तला के मनस्ताप का कारण जानना चाहती थीं, तभी वे उसका निदान कर सकती थीं। उस समय आयुर्वेद का विकास भी था। सिरदर्द में शीर्षानुलेपन तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् में उदयन को स्कन्ध शयन (स्ट्रेचर) पर ले जाना, व्रण का उपचार इसका प्रमाण था। रोग के दो प्रकार होते थे - एक मानसिक दूसरा शारीरिक। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त के मनस्ताप का हेतु शकुन्तला का विरह है। इसके अतिरिक्त सामान्य रोगों में आतपलंघन[६], शीर्षवेदना[७], मोच आना, कुक्षिपरिवर्त[८], व्रण[९], सर्पदंश[१०], ठंड लगना भी है। वातशोणित[११] का भी संकेत मिलता है।

---

१ अथ च उपोपविश्य प्रवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः। प्रतिमानाटकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७५

२ अथ च उपोपविश्य प्रवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः। प्रतिमानाटकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७५

३ अत्र भवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ 288

४ मालविकाग्निमित्रम- चतुर्थ अङ्क पृष्ठ ३१९

५ विकार खलु परमार्थत. अज्ञात्वामारम्भः प्रतीकारस्य। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४४

६. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ४१

७ स्वप्नवासवदत्तम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ १३३

८ स्वप्नवासवदत्तम् - चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ८९

९ मालविकाग्निमित्रम् - ४/४

१० मृच्छकटिकम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ ८२

११ यथा वातशोणित अभितश्व वर्तत इति पश्यामि - स्वप्नवासवदत्तम्, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ ८६

चिकित्सा-शास्त्र में व्यायाम[१] भी मानव स्वास्थ्य के लिए आवश्यक था। उससे शरीर हृष्ट-पुष्ट[२] रहता था।

आवागमन एवं जीविकोपार्जन

आवागमन और यातायात के प्रमुख साधन वाहन (पशु) और यान थे। पशुओं में अश्व, बलीवर्द और हस्ती, परिवहन के मुख्य साधन थे। अश्व सवारी और युद्ध दोनों में काम आता था। मृच्छकटिकम् में न्यायाधीश वीरक को घोड़े पर जीर्णोद्यान जाने को कहता है।[३] यानों के अन्तर्गत रथ[४], शिविका[५], शकटी[६], घोटकशकटिका[७] आदि का उल्लेख किया गया है।

देशवासियों के जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन *कृषि* भी रहा है। कृषि के लिए वर्षा का आधिक्य या अभाव अहितकर होता है। वर्षा का आधिक्य भी कृषि को नष्ट करता है और उसके अभाव[८] से भी कृषि नष्ट होती थी। कृषि के पश्चात् जनता का प्रधान व्यवसाय *व्यापार* था। यह भी आर्थिक समृद्धि का प्रमुख साधन था। देशीय व्यापार के साथ-साथ वैदेशिक व्यापार भी प्रचलित था। चीन, कम्बोज आदि देशों से

---

१ व्यायामशालीचात्यनुपालकः - प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, २१३

२ व्यायामस्थिरविपुलोच्छितायतांसो - अविमारकम्, १/८

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १२१

४ चोद्यतां मम रथः - कर्णभार, प्रथम अङ्क, पृष्ठ ६

५ प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - तृतीय अङ्क, पृष्ठ ९४

६ पञ्चरात्र - १/९

७ घोटकशकटिकामारुह्य- पञ्चरात्र द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ५५,

८ मृच्छकटिकम् - १०/२६

तत्कालीन भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। चीन से चीनांशुक[१] और कम्बोज से उत्तम घोड़ों[२] का आयात होता था। युवा व्यापारी देशान्तरों में व्यापार करने जाते थे और अपने वैभव का विस्तार करते थे।[३] राजकीय आय का प्रमुख साधन कर था। प्रजा से आय का षष्ठांश कर-रूप में लिया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[४] में कञ्चुकी राजा दुष्यन्त को, आय का छठा भाग लेने के कारण षष्ठांशवृत्ति कहता है।

जन-जीवन में व्याप्त सांस्कृतिक धारा का स्पर्श तत्कालीन समाज में प्रचलित उत्सव, परम्परा, वास्तुकला, शिल्पकला तथा विविध क्रीडाओं में मिलता है। जो मनोरञ्जन का साधन होने के साथ ही साथ संस्कृति के निर्वाहक भी थे।

उत्सव

उत्सव-प्रथाओं के अन्तर्गत विविध प्रकार के उत्सवों का उल्लेख रूपक भेदों में मिलता है। *पञ्चरात्र*[५] में राजा के जन्मदिवस के उत्सव का आयोजन करने का वर्णन मिलता है।

उत्सव ऋतुओं से भी जुड़े थे। ऋतु-सम्बन्धी उत्सव में सबसे अधिक प्रचलित उत्सव *वसन्तोत्सव* होता था। राजकीय उत्सवों में वसन्तोत्सव[६] का विशिष्ट स्थान था।

---

१ चीनांशुकमिव केतो:। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/३२

२ सकलनृपतिमान्यं मान्यकम्बोजजातम्।
सपादि बहुसहस्रं वारिचनां ते ददामि॥ – कर्णभार, १/११

३ किमनेकनगरमिगमनजनितविभवविस्तारो वणिजयुवा। मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ७५

४ अभिज्ञानशाकुन्तलम् – ५/४

५ काञ्चुकीय .– जन्मनक्षत्रक्रियाव्यापृतस्य महाराजस्य तावदकरलं निवेदनम् – भास नाटक चक्र, पृष्ठ ३९२

६ अनात्मने । देवेन प्रतिबद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाप्रकलिका भङ्गमारभसे- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १०३

जिसे *ऋतूत्सव*[१] और *वसंतावतार*[२] की संज्ञा दी जाती थी। वसन्तऋतु के आगमन पर कामदेव की प्रतिष्ठा में यह उत्सव मनाया जाता था न, केवल नगरवासी बल्कि प्रकृति भी वसन्त के स्वागत की तैयारियां आरम्भ कर देती थी।[३]

अभिज्ञानशाकुन्तलम्[४] में *मधुरिका* और *परभृतिका* नामक चेटियां आम्रमञ्जरी से धनुर्धारी कामदेव की पूजा करना चाहती है। कालिदास के *मालविकाग्निमित्रम्*[५] में वसन्तोत्सव के अन्तर्गत अशोक दोहदोत्सव भी मनाने का उल्लेख है। वसन्त-मास में अशोक के पुष्पित न होने पर इस उत्सव का आयोजन किया जाता था। सुन्दर रमणी के पदाघात से अशोक पुष्पित हो जाता था, इस मान्यता के अनुसार वस्त्राभूषणो से अलङ्कृत राजमहिषी वाम पदाघात से उसे प्रताड़ित करती थी। महिषी के अस्वस्थ होने पर कोई अन्य रमणी ऐसा करती थी।[६]

अशोक के पुष्पित होने पर राजा राजमहिषियों एवं परिचारिकाओं के साथ

---

१ किं खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजरुलं दृश्यते - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १०१

२ अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि ......। नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या. ......- मालविकाग्निमित्रम् , तृतीय अङ्क, पृष्ठ २९३

३ रक्ताशोकरुचां विशेषितोगुणो बिम्बाधरलक्तकः। प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्। आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफांजनैः सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीमहिषी योषिताम्। - मालविकाग्निमित्रम् ३/५।

४ सखि ! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि — शाकुन्तलम्, षष्ठम् अङ्क, पृष्ठ १०२

५ युक्तं नाम अत्रभवतः प्रियवयस्योऽयमशोको ननु वामपादेन ताडयितुम् - मालविकाग्निमित्रम, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ३०८।

६ तर्कयामि दोलापरिभ्रष्टया सरुजचरणया देव्याऽशोकदोहदाधिकारे मालविका नियुक्तेति। अन्यथा कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरयुगलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति - मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ३०२

कुसुम-समृद्धि के दर्शन करता था।[१] वसन्तोत्सव के अवसर पर साहित्यिक रूपकों का अभिनय भी होता था। ये नाटक साधारण जन के लिए होते थे। *मालविकाग्निमित्रम्*[२] नाटक वसन्तोत्सव पर ही सर्वप्रथम अभिनीत हुए।

वसन्तोत्सव की ही तरह विजयोत्सव भी होता था। मालविकाग्निमित्रम् नाटक के पञ्चम् अङ्क के राजकुमार वसुमित्र के विजयोपलक्ष्य का सङ्केत मात्र किया गया है। राजकुल में विजय सूचना देने वालों के पुरस्कारों एवं पारितोषिकों से पुरस्कृत किया जाता था। *मालविकाग्निमित्रम्*[३] में प्रतिहारी रानी से कहती है- आपके पुत्र की विजय का समाचार सुनकर मुझपर पुरस्कारों की इतनी वर्षा हुई कि मैं अन्तःपुर के आभूषणों की मञ्जूषा बन गयी।

विजयोत्सव पर कारागार के समस्त बन्दी मुक्त कर दिये जाते थे। *मालविकाग्निमित्रम्*[४] में इसका सङ्केत मिलता है।

उत्सव परम्पराओं के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की प्रतिमाओं और मूर्तियों के द्वारा भी संस्कृति की झलक मिलती है। तत्कालीन शिल्पकार नाना प्रकार की आकृतियों और प्रतिमाओं का निर्माण करने में अत्यन्त निपुण थे। मूर्ति-निर्माण के साधनों में मिट्टी, काष्ठ और प्रस्तर का उपयोग किया जाता था। *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*[५]

---

१ **यथार्हसम्मानसुखितमन्त.पुरविसृज्य मालविकापुरोऽग्रेवात्मनः परिजनेन सह देवं प्रतिपालयति-** मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३४२

२ **अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रम् नाम नाटकस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति-** मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अङ्क, पृष्ठ २६

३ **यद्देव्याज्ञापयति। भट्टिनि! पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूषास्मि संवृत्ता** -मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ३५५

४ **मौद्गल्य ! यज्ञसेनश्यालमूरीकृत्य मोच्यतां सर्वेबन्धनस्था** - मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम् अङ्क।

५ **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** - सप्तम् अङ्क, पृष्ठ १३८

में भरत मिट्टी से बने हुए मयूर से खेलता है। *मृच्छकटिकम्* में काष्ठ-प्रतिमा[१] और शैल-प्रतिमा[२] का उल्लेख हुआ है।

प्रतापी राजाओं और मनस्वी पुरुषों की मृत्यु के पश्चात् उनकी स्मृति में उनकी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की जाती है। *प्रतिमानाटकम्*[३] में प्रतिमागृह में रघुवंशी राजाओं की शौर्य-गाथा को जाग्रत रखने के लिए उनकी प्रतिमायें स्थापित की गयी थी। इसी प्रकार *विक्रमोर्वशीयम्*[४] में राजद्वार पर बैठे हुए मोर पत्थर में खुदे हुए प्रतीत होते हैं। धर्म-प्राण व्यक्तियों की आस्था के स्थूल आधार के लिए मन्दिरों की स्थापना की जाती थी। *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*[५] में इसका सङ्केत मिलता है। इसी प्रकार मृच्छकटिकम् में प्राप्त राजप्रासाद,[६] देवायतन[७], विहार[८], तडाग,[९] कूपादि [१०] के वर्णन से स्पष्ट है कि स्थापत्य-कला ने व्यवस्थित और स्थिर रूप धारण कर लिया था। *प्रतिमानाटकम्* में पत्थर की प्रतिमाओं में भाव, गति, भंगिमाओं का अंकन अतीव मनोहारी है, अतः इस काल के पूर्व ही पाषाण-कला का विकास रहा होगा। ऐसी सम्भावना की जाती है। इस काल में पर्दे पर चित्र-निर्माण का प्रचलन था। *प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्*[११] में कञ्चुकी

---

१ कथं काष्ठमयी प्रतिमा - मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १०६

२ न खलु न खलु । शैल प्रतिमा - मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ १०६

३ प्रतिमानाटकम् - तृतीय अङ्क, सम्पूर्ण

४ उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो - विक्रमोर्वशीयम् ३/२

५ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - सप्तम् अङ्क, पृष्ठ १३८

६ मृच्छकटिकम् - नवम् अङ्क, पृष्ठ ५०४

७ मृच्छकटिकम् - नवम् अङ्क, पृष्ठ ५०४

८ मृच्छकटिकम् - नवम् अङ्क, पृष्ठ ५०४

९ मृच्छकटिकम् - नवम् अङ्क, पृष्ठ ५०४

१० मृच्छकटिकम् - नवम् अङ्क, पृष्ठ ५०४

११ भास नाटक चक्र - पृष्ठ १०६

चित्र-फलक में चित्रित वत्सराज और वासवदत्ता के विवाह के लिए महासेन से कहता है। *उरुभंग*[१] में भी दो स्थलों पर चित्रपटम् शब्द का प्रयोग किया गया है।

भास की रचना अविमारक में लकड़ी के बने हुए स्तम्भों का वर्णन आया है। जो कन्यान्त:पुर प्रासाद के काष्ठमर्क बहुल होने से तथा जाली लगे होने से चढ़ने में सुगम बताया है।

उस काल में उन्नत वास्तुकला का भी परिचय मिलता है। उस समय के भवन सम्भवत: मणिमय होते थे। सीढ़ियां गंगा की तरंगो के समान सफेद स्फटिक मणि से बनी होती थी।[२] यहं प्रदोष-काल में अत्यन्त रमणीय होती थी[३] चूँकि इनकी छत से चन्द्रमा स्पष्ट दिखता था, अत: रानियाँ व्रत के दिन यहीं से चन्द्रमा के दर्शन करती थीं।[४]

राजर्भवन के बाहर के भाग में सभामण्डप भी होता था। उसमें मंत्रशाला भी होती थी, जिसमें राजा गुप्त मन्त्रणा कहता था। राजा के वैभव के अनुसार नानाविध बहुमूल्य उपकरणों से सज्जित राजगृहों, प्रासादों तथा आस्थान-मण्डप के अतिरिक्त शयनागार[५], शस्त्रशाला, हस्तिशाला, संगीतशाला, क्रीडावेश्म, सारभाण्डारगृह, चतु: शाला, मंगलगृह, प्रवातशयन आदि भी समाविष्ट थे।

चित्रकला एवं वास्तुकला के अतिरिक्त संगीत एवं नृत्य आदि का भी पर्याप्त विकास था। संगीत एवं नृत्य मनोविनोद के साधन होते थे। संगीत में चित्त को मोहित

---

१ उरुभंग - १/३

२ एतेन गङ्गातङ्गश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु। - विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १९६

३ प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यम् - विक्रमोर्वशीयम् तृतीय अङ्क, पृष्ठ १९६

४. मणि हर्म्यपृष्ठे सुदर्शनचन्द्रः। तत्र संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोग इति -विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १९६

५ वेत्रवति! पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गम् दर्शय - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ९६

करने वाली शक्ति मानी जाती थी। *संगीतशाला, प्रेक्षागृह, नाट्याचार्य* आदि शब्दों का प्रयोग लोगों की संगीत के प्रति रुचि को दर्शाता है।

इन आचार्यों को राजा की ओर से वेतन भी मिलता था। जब कभी इन नाट्याचार्यो में विद्या या योग्यता विषयक विवाद छिड़ता था तो उसका निर्णय राजा के समक्ष होता था। आचार्यो के शास्त्र-ज्ञान का परीक्षण उनके शिष्यों के कला-चातुर्य के आधार पर होता था। मालविकाग्निमित्रम्[१] में नाट्याचार्य *हरदत्त और गणदास* अपनी नाट्यशास्त्रीय योग्यता के निर्णयार्थ राजा अग्निमित्र की सभा में जाते हैं। *प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्*[२] में राजा उदयन को गन्धर्व विद्या विरासत में मिली, ऐसा प्रसङ्ग मिलता है।

वर्ण्य रूपक भेदों में उल्लिखित स्वर-संक्रम[३], मूर्च्छना[४], लय[५], उपगान[६], वर्ण-परिचय[७] आदि संगीत के पारिभाषित शब्दों का प्रयोग है। वाद्यों में वीणा वर्ण-परिचय आदि संगीत के पारिभाषित शब्दों का प्रयोग है। वाद्यों में वीणा प्रचलित थी,[८] इसे *तन्त्री* भी कहा जाता था।[९]

मालविकाग्निमित्रम्[१०] नाटक में वसन्तोत्सव के अवसर पर नाटकाभिनय के

---

१ उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ। त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविशशरीरिणौ। - मालविकाग्निमित्रम्, १/१०

२ दर्पत्येनं दायाद्यागतो गान्धर्वो वेदः प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ६३

३ मृच्छकटिकम् - ३/५

४ मृच्छकटिकम् - ३/५

५ मालविकाग्निमित्रम् - २/८

६ मालविकाग्निमित्रम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ २८२

७ अभिज्ञानशाकुन्तलम् - पञ्चम् अङ्क, पृष्ठ ७९

८. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् - द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ५२

९. उच्चं हर्म्ये सन्निरुद्धाश्च जालास्तन्त्रीनादः श्रूयते सानुनादम् - अविमारकम्, ३/5

१० मालविकाग्निमित्रम् - प्रथम अङ्क, पृष्ठ २६

साथ-साथ परिषद् में सरसता संचार के लिए-संगीत की भी रचना की जाती है।

संगीत एवं नृत्य मनोविनोद के भी साधन थे। *मृच्छकटिकम्*[१] में चारुदत्त अपने मनोविनोद के लिए अपने मित्र आर्य रेभिल के घर संगीत सुनने जाता है। वीणा आदि वाद्य-यन्त्र उत्कण्ठित व्यक्ति के मित्र होते थे।[२] नृत्य भी मानव हृदय के उल्लास एवं उमंग की अभिव्यक्ति का सरल माध्यम था। '*बालचरितम्*'[३] में वर्णित हल्लीसक नृत्य एक लोक नृत्य का ही रूप था। इन लोक-नृत्यादि के अलावा शृङ्गार प्रधान भाणों में द्यूत कन्दुक आदि क्रीड़ाओं एवं कुक्कुटादि युद्धों का वर्णन मिलता है। यह एक सुन्दर और ललित नृत्य होता था। मनोविनोद के ही अन्तर्गत गणिका भी परिगणित थी। धनिक और कामुकजन प्रभूत धन देकर उनका उपभोग करते थे।[४]

---

१ कापि वेला आर्य चारुदत्तस्य गान्धर्व श्रोतुं गतस्य। मृच्छकटिकम्, तृतीय अङ्क, पृष्ठ १४७

२ मृच्छकटिकम् - ३/३

३ भोगे विबोल्बकणस्य महोरगस्य।
हल्लीसकं सललितं रुचिरं वहामि। बालचरितम्, ४/६

४ चारुदत्तम् - १/१७

मूल्याङ्कन

साहित्य समाज का दर्पण है, यह एक शाश्वत सत्य है। समाज में जो कुछ भी सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक घटना-चक्र चलता है, मानवीय समाज की जो वैचारिक अभिव्यक्तियां होती है, समाज की जो मनोवृत्तियां होती है, अर्थात् समाज के किसी भी पक्ष की जो चेतना है, वह साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है, समाज के इस स्पंदन को साहित्य में प्रतिबिम्बित करने का माध्यम लोक-संस्कृति है। तात्पर्य यह है कि संस्कृति की अभिव्यक्ति की आत्मा लोक-संस्कृति पर आधारित है। संस्कृत-रूपकों में इसी लोक-संस्कृति को रेखाङ्कित करने का प्रयास किया गया है। विविध रूपक भेदों के माध्यम से स्पष्ट हुआ है कि लोक-संस्कृति की कोई परिधि नहीं है, निःस्सीम लोक-संस्कृति की यह् धारा किसी जाति, सम्प्रदाय और वर्ग में भी नहीं बंधी, अपने कलेवर में औदार्य और विशालता को लिये हुए यह लोक-संस्कृति प्रत्येक युग में जीवन-मूल्यों के संरक्षण में संलग्न रही ।

लोक-संस्कृति शब्द को लेकर कुछ लोगों में यह भ्रान्ति है कि लोक-संस्कृति की सीमा गांव या देहात तक ही सीमित है परन्तु ऐसा कदापि नहीं है, लोक-संस्कृति अत्यंत विशाल है जहां तक मानव समाज है, वहां तक लोक है और उससे जुड़ी संस्कृति है। फिर वह गांव हो, शहर हो, सामान्य-वर्ग हो या राजवर्ग। लोक-संस्कृति से कोई भी अछूता नहीं है। शहर के भी सारे आचार-विचार, वेश-भूषा, सामान्य व्यवहार, जीवन-शैली सब कुछ लोक-संस्कृति के अंतर्गत आयेगा। इसी प्रकार राज-परिवारों में भी जो कुछ व्यवहार अथवा सामान्य जीवन-शैली है, वह सब लोक-संस्कृति में ही समाहित है; क्योंकि राजवर्ग भी समाज की संरचना का एक वर्ग है, अतः वहां पर भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में लोक-संस्कृति भासित होती है। इसी प्रकार नाट्य के भेदों-प्रकरण, प्रहसन, भाण, व्यायोग इत्यादि में नाटक की अपेक्षा

लोक का पुट अधिक रहता है क्योंकि नाटक शिष्ट-वर्ग के मनोरञ्जन के लिए लिखे और खेले जाते थे। अतः हम यह नहीं कह सकते कि नाटक जन-जीवन से विलग रहा होगा परन्तु इतना अवश्य है कि अन्य नाट्य-भेदों की अपेक्षा नाटक में उतनी स्पष्ट लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

नाट्य के अन्य भेदों प्रकरण, प्रहसन, भाण आदि में लोक-संस्कृति स्पष्ट रूप से प्रकट हुई है। उस समय प्रचलित जुए की प्रथा, चौर्यकर्म, सम्मानित जन की भी वेश्या के प्रति प्रवृत्ति तथा साथ ही साथ गणिका के प्रति समाज की सोच आदि का परिचय मिलता है। इसी प्रकार भाण के द्वारा समाज के धूर्तों, पुरोहितों, ब्राह्मणों की वास्तविकता का स्पष्टीकरण होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्य-भेद कोई भी हो, शिष्ट अथवा ग्राम्य-रूप में लोक-संस्कृति के माध्यम से विविध संस्कृतियों की झलक मिलती है।

रूपक दृश्यात्मक होने के कारण मानव-जीवन और समाज के यथार्थ-चित्रण में अधिक सक्षम होते हैं, मानव की सम्वेदनाओं के अधिक समीप होते हैं। लोक और समाज से जुड़ी संस्कृति इसमें अधिक स्पष्ट होती है, अतः इनकी दृश्यात्मकता के कारण ही रूपकों में ही लोक-संस्कृति के अन्वेषण का प्रयास किया गया है।

संस्कृत रूपकों के अलावा साहित्य की अन्य विधाओं में भी लोक-संस्कृति का समावेश है क्योंकि बिना संस्कृति को आधार बनाये न कल्पना होगी, न यथार्थ, तब सृजन की भी सम्भावना नहीं रहेगी इसलिए जहाँ सृजन है वहां संस्कृति स्वतः ही है। आदिकाल से जब से विचार शब्दों में बंधने शुरू हुए संस्कृति की धारा साथ-साथ अनवरत चलती रही और आज भी लेखनी की प्रेरणा लोक-संस्कृति बनी हुई है।

लोक-संस्कृति के प्रतिबिम्बन द्वारा साहित्य समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वहण करता है समाज में प्रचलित जो मान्यतायें, मूल्य, रीति-रिवाज हैं उनका चित्रण, साथ ही उनका मूल्याङ्कन अर्थात वह तत्कालीन युग में कितने अनुकुल या प्रतिकूल है इसका निर्णय कर अपने महत्त्वपूर्ण कर्तव्य का निर्वाह करता है।

भारतीय साहित्य की यह विशेषता है कि वह यथार्थ का चित्रण करते हुए अन्त में आदर्श की स्थापना अवश्य करता है, सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का उद्देश्य भारतीय साहित्य में भी अङ्गीकार किया गया है। प्राचीन काल में जो साहित्य लिखे गये और आज के सम-सामयिक परिवेश में जो लिखा जा रहा है, इन दोनों में बड़ा अन्तर है कारण- मूल्य, विश्वास और संस्कार। उस समय के मूल्य, विश्वास कुछ और होते थे तभी साहित्य की भी अपनी मर्यादा होती थी। समाज में मर्यादा थी तो साहित्य में भी शिष्ट संकोच था। इसी के परिणामस्वरूप नाटक आदि भेदों में शयन या मृत्यु-दर्शन वर्जित था उस समय श्रीराम के आदर्श की ऊंचाई यह थी कि उन्हें चौदह वर्ष के वनवास से कष्ट नहीं था और बाद में राज्य पाकर हर्षातिरेक भी नहीं था और जिस सीता को रावण से युद्ध करके पुनः लाये थे लोकरञ्जनार्थ उसी पत्नी के लिये वे कहते हैं - *'मुञ्चतो नास्ति मेव व्यथा'* इसी प्रकार पाण्डव भी वनवास पाकर दुःखी नहीं थे पुनः राज्य प्राप्त कर गदगद नहीं थे ऐसा था वह समय राम और युधिष्ठिर जैसे आदर्श चरितों का दृष्टान्त जनता के सामने था, इसलिए वैसी ही आस्था, विश्वास और मूल्य समाज में थे।

पर आज समय परिवर्तित हो चुका है हमारे सामने जो कुछ हो रहा है वह हम लिखते जा रहे हैं। साहित्य के द्वारा शिव की स्थापना का उद्देश्य अनिवार्य नहीं है।उस समय भी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम लोक-संस्कृति था और आज भी संस्कृति लोक-संस्कृति के द्वारा ही साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है अन्तर इतना है कि

आज साहित्य में स्थापित करने के लिए संस्कृति का पहले जैसा समृद्ध रूप नहीं है परन्तु ऐसा भी नहीं है कि आज हम आदर्श, मूल्यहीन हो गये हैं आज भी त्याग, तपस्या, दृढ़ता, स्नेह के आदर्श हैं। आवश्यकता है उन्हें ढूंढकर समाज और साहित्य में स्थापित करने की, जिससे पुनः हम संस्कृति के गौरव को विश्व भर में प्रसारित कर सकें।

मेरे शोध-प्रबन्ध के विषय के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठ सकता है कि रूपकों में लोक-संस्कृति के अन्वेषण के द्वारा देश के स्वर्णिम अतीत को चित्रित करने का क्या प्रयोजन है ? प्रयोजन मात्र इतना है अपनी संस्कृति के उन मूल्यों, विश्वासों की पुनः एक बार स्थापना हो। हम संस्कृति के महामंत्र *'सर्वे भवन्तु सुखिन':* को पहचाने जिसका उद्घोष पूरे विश्व में था। अपने हृदय में उस विशालता और उदारता को धारण करें जो *' वसुधैव कुटुम्बकम्'* की प्रेरणा बने। यद्यपि व्यवहार रूप में यह संकल्प अत्यन्त कठिन है तथापि मेरे ईषत् प्रयास रूप शोध-प्रबन्ध के द्वारा इस संकल्प को किञ्चित् सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अभिज्ञानशाकुन्तलम् — *कालिदास,* डॉ० कपिलदेव द्विवेदी टीका, साहित्य संस्थान प्रकाशन वाराणसी, 1976।

भावप्रकाशनम् — *शारदातनय,* हिन्दी भाष्यानुवाद, डॉ० मदन मोहन अग्रवाल, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 1983।

रसगङ्गाधर — *पण्डितराज जगन्नाथ-* भट्ट मथुरानाथशास्त्री टीका मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1983।

हिन्दी नाट्यशास्त्र — श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1984।

काव्यप्रकाश — *आचार्य मम्मट,* आचार्य विश्वेश्वर टीका, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सम्वत् 2042।

ध्वन्यालोक — *आनन्दवर्धन* - आचार्य विश्वेश्वर टीका, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी सं० 2042।

दशरूपकम् — *आचार्य धनञ्जय,* - श्रीनिवास शास्त्री टीका, साहित्य भण्डार प्रकाशन, मेरठ, 1994।

भासनाटकचक्रम् — डॉ० सुधाकर मालवीय, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1987।

आधुनिक संस्कृत नाटक — *रामजी उपाध्याय,* संस्कृत परिषद् सागर विश्वविद्यालय, सागर 1977।

मध्यकालीन संस्कृत नाटक— *रामजी उपाध्याय,* संस्कृत परिषद् सागर विश्वविद्यालय, सागर 1977।

मृच्छकटिकम् — *शूद्रक,* व्याख्याकार श्रीनिवास शास्त्री, साहित्यभण्डार मेरठ, 1980।

विक्रमोर्वशीयम् — *महाकवि कालिदास,* टीकाकार आचार्य चुन्नीलाल शुक्ल, साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ 1978।

ऋग्वेद — नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर दिल्ली, 1978।

कालिदास ग्रन्थावली — *सीताराम चतुर्वेदी,* भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, III संस्करण, संवत् 2019।

काव्यानुशासनम् — *हेमचन्द्र,* श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई 1838।

नाटकलक्षणरत्नकोश — *सागरनन्दी,* चौखम्भा वाराणसी, 1972।

नाट्यदर्पण — *रामचन्द्र गुणचन्द्र,* दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1961।

महाभारत — पूना संस्करण

रसार्णवसुधाकर — *शिङ्गभूपाल,* त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ 1916।

साहित्यदर्पण — *विश्वनाथ* (विमला टीका) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली IV संस्करण 1961।

उत्तररामचरितम् — *महाकवि भवभूति,* टीकाकर डॉ० कपिलदेव द्विवेदी रामनारायण लाल विजयकुमार इलाहाबाद 1989।

संस्कृत-हिन्दी-कोश — *वामन शिवराम आप्टे,* मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1966।

अभिनवभारती — *अभिनवगुप्त,* गायकवाड़ ओरिण्टल सीरीज़ बड़ौदा, 1925।

हिन्दी दशरूपकम् — डॉ० भोलाशङ्कर व्यास टीका, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 1967।

साहित्यदर्पण — डॉ० शालिग्राम शास्त्री टीका, मोतीलाल बनारसीदास, 1956।

मनुस्मृति — मनु

लोक-संस्कृति की रूपरेखा — डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988।

अन्य सहायक ग्रन्थ

अभिषेक नाटक — आचार्य रामचन्द्र मिश्र की टीका

अभिज्ञानशाकुन्तलम् — कालिदास ग्रन्थावली, ॥ संस्करण

अविमारक — आचार्य रामचन्द्र मिश्र की टीका

उरुभंग — आर० वी० कुम्भारे की टीका

कर्णभार — पं० रामजी मिश्र की टीका

चारुदत्त — पं० कपिल देव गिरि की टीका

दूतघटोत्कच — पं० रामजी मिश्र की टीका

दूतवाक्य — पं० रामजी मिश्र की टीका

पञ्चरात्र — पं० रामचन्द्र मिश्र की टीका

प्रतिमानाटक — पं० रामचन्द्र मिश्र की टीका

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् — पं० कपिलदेव गिरि की टीका

बालचरित — सीताराम सहगल की टीका

मध्यम व्यायोग — पं० रामजी मिश्र की टीका

मालविकाग्निमित्रम् — कालिदास ग्रन्थावली ॥ संस्करण

मृच्छकटिकम् — महाप्रभुलाल गोस्वामी और रमाकान्त द्विवेदी की टीका

स्वप्नवासवदत्तम् — प्रो० पी० पी० शर्मा की टीका

आश्वलायन गृह्यसूत्र

कालिदास का भारत — भगवतशरण उपाध्याय

प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास — डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी

प्राचीन वेशभूषा — डॉ० मोतीचन्द्र

कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय-संस्कृति - डॉ० गायत्री वर्मा

अथर्ववेद —

संस्कृति के चार अध्याय — डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'

श्रीमद्भगवद्गीता — महर्षि वेदव्यास

जनपद पत्रिका — पं० राम नरेश त्रिपाठी

लोक-संस्कृति — वसन्त निर्गुणे

सम्मेलन पत्रिका — लोक-संस्कृति विशेषांक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

संस्कृत भाण साहित्य की समीक्षा — डॉ० श्रीनिवास मिश्र

हर्षचरित - एक सांस्कृतिक अध्ययन — वासुदेवशरण अग्रवाल

Study of orisian folklore — Dr. Das

The Study of folklore - Dr. Alen Dandı

Dictionary of folklore mythology & legend — Meriya Leach

A Hand Book of folklore — Sofia Burn